

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU₁180429

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83
M 42 B

Accession No. H 3301

Author - माटियाली, सी. के. श.

Title जोशिवन्ते से जोशिमन्दर तक, 1959.

This book should be returned on or before the date
last marked below.

बोरीवली से बोरीबन्दर तक

शैलेश मटियानी



आत्मराम राण्ड संशुध

क्राश्मीरी गेट, दिल्ली



Checked 1965

Checked 1969

OPYRIGHT © BY ATMA RAM & SONS, DELHI-6

प्रकाशक

रामलाल पुरी, संचालक

आत्माराम एण्ड संस

काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	३	रुपए	५०	न.	पै.
प्रथम संस्करण	:	१	६	५	६	
प्रावरण	:	योगेन्द्रकुमार			लल्ला	
इद्रक .	:	मूवीज	प्रेस,		दिल्ली-६	

स्नेह-प्राण भाई शमशेरबहादुर सिंह
को

बारीवली, बोरीबन्दर और मैं

परिस्थितियों की विषमता के बीच पूरे एक वर्ष की अवधि तक, बोरीवली-बोरीबन्दर के बीच मेरे दिन गुजरे। ढेर सारे तीते-मीठे अनुभव हुए इन दिनों। यह पूरा वर्ष पुलिस-चौकी, अस्पताल और फुटपाथ में, बीमारी-बेकारी के सन्निपात में छटपटाते हुए, जीवन-मृत्यु के बीच भूलते बीता।

इस बीच बम्बई की आत्मा को बहुत निकट से देखने का अवसर मिला। जो-कुछ देखा उसी की सरल रेखानुकृति 'बोरीवली से बोरीबन्दर तक' है। बम्बई-जीवन की अद्यतन रूप-रेखा यह नहीं है; जितना-कुछ मैंने देखा, उतना भी नहीं है, उसका 'लघुतम-समापवर्त्य' है। वास्तव में, यहाँ के निम्न वर्ग का जीवन इतना विषाक्त हो चला है कि इसके संचारी रोग की तरह फैलने की संभावना है। इस विशाल बम्बई के मानस में मानवता कराह रही है।

‘बोरीवली से बोरीबन्दर तक’ में मैंने जो-कुछ भी लिखा है, वह सब यहाँ होता रहा है, होता जा रहा है और न-जाने कब तक होता रहेगा ! यहाँ, अन्दर-ही-अन्दर, एक रौरव नरक का निर्माण हो रहा है, जो एक दिन विस्फोटक रूप में सामने आएगा । सत्य पर कब तक पर्दा डाला जा सकेगा ? बम्बई की रगों में अत्याचार और शोषण के जो विषैले कीटाणु पनप रहे हैं, उन्हें देखने के लिए ‘खुर्द-बीन’ की आवश्यकता है ।

एक मित्र ने, इसके कुछ अंश पढ़कर, कहा था, “बहुत कड़वा है...अश्लील भी...और वेश्याओं को तुमने बहुत ज्यादा महत्त्व दे दिया है ।”

वेश्याओं के प्रति मेरी क्या भावना है, यह मैं पुस्तक में स्पष्ट कर चुका हूँ, दोहराना नहीं चाहता । सोचता हूँ, आखिर हम लोग समाज के इस पातक की ओर से इतने उदासीन क्यों हैं ? क्या इस प्रश्न को हम भविष्य के लिए ज्यों-का-त्यों छोड़ जाएँ ? ...ताकि आनेवाली पीढ़ी हमारे कुकर्माँ, हमारे पातकों और हमारी नृशंसताओं का इतिहास जब जोर-जोर से पढ़कर हमें सुनाए, और हमारे उस ललाट पर थूके, जिस पर लगे हुए कलंक के टीकों पर हम थोथी सभ्यता का चंदन लेपकर, सांस्कृतिक गुस्ता की भस्म रमाकर, दुनिया के सामने ऊँचा उठाने को देखते हैं, तो हमें डूब मरने के लिए कुर्माँ भी न मिले !

यह क्यों भुला दिया जाता है कि ‘समय की दृष्टि गिद्ध-दृष्टि होती है ? यथार्थ को झुठलाना कोई अक्लमंदी नहीं है । कड़ुवी दवा पीने से इन्कार करनेवाला रोगी, रोग की भयंकरता को न्यौता देता है ।

जिस देश में लाखों माँ-बहनें शोषकों के कटघरे में पड़ी, नारकीय-जीवन बिताने पर मजबूर हों, उस देश को राम-कृष्ण का, वेद, रामायण, महाभारत और सभ्यता-संस्कृति का देश कहना

सरासर भूठ है। यदि सच है, तो राम-कृष्ण भी मानवता का रक्त चूसनेवाले ही रहे होंगे, इससे अधिक कुछ नहीं। यह सच है, तो वेद, रामायण और महाभारत में केवल यह बताया गया होगा, कि मानव का रक्त मानव ही किस तरह पिए ! यह सच है, तो हमारी सभ्यता-संस्कृति, मानव-मात्र के कल्याण की नहीं, रक्त-शोषण की सभ्यता-संस्कृति है।

यदि ऐसा हम नहीं चाहते, तो हमें 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निराभयाः' को सत्य सिद्ध करना होगा।

अन्त में कटुता और अश्लीलता के विषय में कुछ कहना है :

मलेरिया के रोगी को 'डोंगरे के बालामृत' की नहीं, कुनैन की जरूरत होती है। आज समाज के इस अंग के लिए मरहम की नहीं, 'आपरेशन' की जरूरत है। यह मैं मानता हूँ, कि आपरेशन के लिए कुशल हाथों की आवश्यकता होती है, और मेरे हाथों में इतनी कुशलता नहीं; फिर भी, इस 'आपरेशन' के लिए, मेरी लेखनी 'तेज छुरी' का काम दे सके, यही मेरा संकल्प है। रही अश्लीलता की बात, सो अश्लीलता का चित्रण यदि केवल मानव-मन को कामना, वासना और व्यभिचार की दिशा में ले जाने के लिए किया जाता है, तो वह परिहार्य है, घातक है; पर, सप्रयोजन किया गया यौन या काम-संबंधी चित्रण सोचने-विचारने की एक स्वस्थ दिशा देता है। यह विशेषता यशपाल, कृशन चन्दर और परदेशी के साहित्य में सहज उपलब्ध है।

'बोरीवली से बोरीबन्दर तक' उपन्यास-लेखन की दिशा में मेरा प्रथम प्रयास है। कथा-वस्तु की दृष्टि से यह बम्बई-जीवन का 'क-ख-ग-घ-ङ' है, 'क्ष-त्र-ज्ञ' तक के लिए शायद जीवन-भर लिखना पड़े, जो कुछ भी मैंने लिखा है, वह सत्य है। मैं उसे सही ढंग से प्रस्तुत न कर पाया होऊँ, तो यह दूसरी बात है। गरीबों के बच्चे, पेट-भर दूध न मिलने से, पाँच-छः बरस की अवस्था में भी

सीधे तनकर नहीं चल पाते—माहित्य के क्षेत्र में एक ऐसा ही कमजोर बच्चा मैं हूँ ।

सर्वश्री श्रद्धेय सत्यकाम विद्यालंकार, देवीदयाल चतुर्वेदी, भवानीप्रसाद मिश्र, भाई शमशेर, नदकिशोर मित्तल, 'शेखर', वीरेन्द्रकुमार जैन और परदेशी का चिर ऋणी हूँ, जिनका स्नेहदुग्ध पीकर मेरे अंग कुछ पुष्ट हुए हैं ।

'बोरीवली से बोरीबन्दर तक' सम्बन्धी प्रत्येक विचार और सुझाव के लिए, मैं मैत्री का आंचल फैलाए रहूँगा ।

शैलेश मटियानी

एक

“यार, ठाकुर !”

“बहुत डरपोक है, पंडित ! ‘आप तो डूबे बामना, ले डूबे यजमान’, कराएगा ?”

“यार ठाकुर, यह छुकछैया-छुकछैया की घरघराती आवाज... लगता है, अब... लगता है, अब...”

“लगता है, अब टिकट-चेकर आया !... मुझे भी फाँसी लगवायेगा, पंडित—मैंने क्या कहा था तुझ से ? परदेश की जिन्दगी पग-पग पर नई समस्या, मोड़-मोड़ पर नया खतरा लेकर ही कटती है । तू कहता था, ‘खुद सँभल जाता है इन्साँ, ठोकरें खाने के बाद !’—अब बिना ठोकर खाये ही, चारों खाने चित्त क्यों हुआ जा रहा है ?”

“कहता तो था, ठाकुर... पर, न-जाने क्यों मेरा हृदय बैठा-सा

२/बोरोवली से बोरोबन्दर तक

जा रहा है....”

“अरे, बेकार में पानी-सा पतला क्यों हुआ जा रहा है ? जब टिकट-चेकर आयेगा, मैं संभाल लूंगा—जब ओखली में सिर दे दिया, फिर भूसल से क्या डरना !”

“.....”

“क्यों, चुप क्यों हो गया, पंडित ?”

“प्युंली याद आती है, ठाकुर !”

सिर थोड़ा ऊपर उठाकर, वीरेन्द्र ने पंडित की आँखों में भाँका, गीली हो गई थीं। यह प्युंली की याद जब भी आती है, पंडित को बावरा कर देती है। वैसे पंडित है जीवट का आदमी। वीरेन्द्र पूरे तीन बरस बेकार पड़ा रहा दिल्ली में, उस बीच उसका सारा बोझ पंडित ही संभाले रहा। वीरेन्द्र और पंडित—दोनों के बीच बचपन की दोस्ती का नाता था।

“पंडित !” वीरेन्द्र ने हाँक मारी—“इधर मुँह कर ! इस प्युंली की स्मृति से हाथ धो ले। कहीं का न छोड़ेगी तुझे। दिल्ली में तीन बरस पुरानी नौकरी तेरी थी, इस हफ्ते मुझे भी ‘अमर दूत’ में काम मिल रहा था—पर इस प्युंली की याद ने सारा गुड़ गोबर कर दिया—मैं कहता हूँ, सरदार जी की रोटी पकानी तूने केवल इसलिए छोड़ दी, कि उसकी बेटी हन्सी प्युंली की याद दिलाती है ! अजीब उल्लू है तू ! क्या भरोसा कि बम्बई में प्युंली की याद न सताएगी !”

“कुमाऊँ दिल्ली से बहुत नजदीक पड़ता है।”

“याद के लिए कुमाऊँ-दिल्ली, कुमाऊँ-बम्बई की दूरी एक है, पंडित ! वह हमारी तरह ‘विद-आउट टिकट’ ट्रेन में सफर करने

के लिए मजबूर नहीं है—और, बामन ठहरा तू, रसोई पकाने के सिवा दूसरा काम तेरे बस का नहीं, और रोटी पकाने जिस गृहस्थ के घर भी जायेगा, प्यूली की-सी लटी वाली कोई-न-कोई मिल ही जायेगी ! तेरा यह चौड़ा माथा, उस पर कुमौली के कुस्म्यारू-सा पीला चन्दन का टीका, बिनसर के सेब-सा आवदार चेहरा—साक्षात् विश्वामित्र लगता है तू !”

“तेरा माथा, तेरा सीना कम चौड़ा है क्या, ठाकुर ?” पंडित हँस पड़ा—“यार, बाड़ेछीना के ऊपर प्राइमरी स्कूल में हम जब साथ पढ़ते थे, वह घड़ी याद हो आती है—अब तो तू बाँस-भर लम्बा काँस भर चौड़ा हो गया है, यार ! जानता है, सरदारजी की बिटिया कहती थी—“रांभे दा नूर पाया है !”

“किसने ?”

“मैंने पूछा था—‘किसने ?’ बोली—‘तुम्हारे पगहा ने !’ वह तुझे मेरा भाई ही समझती थी—चचेरा भाई ! तू जिसे भी एक झलक दिखेगा, मोह लेगा । ठाकुर, सोचता हूँ, हाथी की-मी मस्ती देकर, बिस्ते-भर की पगडण्डी पर चलने के लिए मजबूर क्यों कर दिया भाग्य ने ?”

भाग्य की बात आते ही वीरेन्द्र का मन भी भारी हो आया । क्या-क्या सपने थे, क्या-क्या आकांक्षाएँ थीं ! जो साकार न हो सकीं, ऐसी कल्पनाएँ—जो पूरे न हो सके, ऐसे सपने !

“क्या सोच रहा है, वीरू ?”

“कुछ खास नहीं, पंडित !” वीरेन्द्र ने कहा—“सोचता हूँ, यह झूले-भटके-सा चलना, यह दिशाहीन-यात्रा, यह अनिश्चित जीवन-क्रम—भविष्य बड़ा धुंधला-धुंधला लगता है, भैया ! सुन तो, जब रानी-

४/बोरीवली से बोरीबन्दर तक

खेत के अन्तिम मोड़ से गुजर रहा था...तो, 'खरूवा को धाग, बड़ुवा बिनैग बटी परदेश लाग !' सोचकर, आँखें भर आई थीं ..."

"हाँ, वीरू," पंडित ने पूछा—"तू अल्मोड़े से चला क्यों आया ? पिछले बरस, दिल्ली में ही, लीलाधर से भेंट हो गई थी । तुम्हारे बारे में पूछा, तो कहता था—'वीरू तो वीरेन्द्र बनकर, कहानियाँ-कविताएँ लिखने लगा है । घास छीलता था, लकड़ियाँ काटता था .. अब दातुली-रमुटे' की जगह कलम चलाता है..."

"कलम चलाने लगा, यही गलती की, यार ! पलटन में भर्ती हो गया होता, तो जमादार-सूबेदार बनने का चान्स रहता । लिखने की धुन में बिना घर-घाट का धोबी हो गया हूँ—जब रानीखेत के अन्तिम मोड़ से गुजर रहा था, सोच रहा था, फिर कभी नन्दा-देवी और बागेश्वर के मेले में हुड़का बजाने का अवसर आयेगा ? हनकिया की मालूशाई और टिकुवाके, जीवाती के बैर सुनने को मिलेंगे ? बिन्सर के सेव, जागेश्वर-पनुवा नौल के खुबानी, काफल और कुमौली के कुस्म्यारू खाने को मिलेंगे ? बाड़ेछीना के चौबटिए में ढोलियों का दमू-नगारा जब बजेगा, वह सुनने को मिलेगा !—आखिरी मोड़ पर हवा और धूल मिलकर एक हो गये थे ...!"

"जब घर छोड़ ही दिया, फिर ममता कैसी, ठाकुर ? 'दूदी में को गाज, आपुण जै नसराएगे—कवा भैजो राज !'"^२ पण्डित ने मुंह फेर लिया ।

वीरेन्द्र चुप रहा, तो पंडित बोला—"प्यार से सूनी जिन्दगी

१. बरांती और कुल्हाड़ी । २. अपने को जब चले ही जाना है, तो भले ही अब कौवे राज करें ।

बड़ी तीखी-कड़ुवी होती है, भैया ! मुझे घरवालों ने कभी प्यार नहीं किया, सो मुझे भी उनसे कोई लगा-लिपटी नहीं है । घर से जब भागा था, प्यूली के पराये घर चले जाने पर, एक बरस मुसलमान के होटल में काम किया, छः महीने एक अंग्लो-इण्डियन साहब के बँगले पर पहरेंदारी की, तो साहब अपनी बीबी की पहरेंदारी करने लगा ! तीन बरस सरदार जी के घर रोटियाँ बनाता रहा । सरदारिन देवी है—बच्चे-सा प्यार करती थी मुझे । हँसी भी मुझे अच्छी लगती है, पर सरदार जी के घर से जो-कुछ मिला, एक गोरखालन पचा गई !”

“कैसे ?”

“मैं तो हमेशा उल्लू ही रहा, वीरू !” ठंडी साँसें भर पण्डित बोला—“नाम था उसका लाली । बैरन कहती थी—‘मलाइ रंडी को जीवन नीको लागन्याई नैहो । तिमी उद्धार करउ—चरन की दासी भई ने रूँला !’” कोई चूड़ी-बेंदीवाला कलाल उसे काठमांडू से भगाकर लाया था । थी बड़ी मुन्दर । मैंने सोचा, प्यूली न रही—लाली सही । कहती थी, यहाँ ३०० रुपए की बन्दिश में पड़ी हूँ । मैंने दो सौ बचाकर रखे थे, उसे सौप दिये । तीसरे सौ की पूर्ति में २५-३० कम ही थे, कि बैरन किसी मुसलटे के साथ सहारनपुर भाग गई,” और एक आह भरकर, पण्डित आँधा लेट गया ।

°

°

°

गाड़ी, अपनी द्रुतगति के चरण फटकारती, फरीदाबाद स्टेशन

! मुझे वेश्या का जीवन बिताना अच्छा नहीं लगता । आप यहाँ से मेरा उद्धार करें, मैं आपके चरणों की दासी बनकर रहूँगी ।

६/बोरीबली से बोरीबन्दर तक

रुकी, तो पण्डित घबराकर उठ बैठा। बोला—“ठाकुर !”

वीरेन्द्र ने कंधा भटका, जेब पर थपकी मारी, बोला—
“घबराता क्यों है ? तेरे दिए तीस रुपए मेरी जेब में पड़े हैं। पकड़ा जायेगा, तो भर देना। मैंने तो दिल्ली ही कह दिया था, तू अपना टिकट ले ले, मैं ऐसे ही चला चलूँगा।”

“इन्हें तू रख, यार वीरू !” पण्डित हँस दिया—“मैं पकड़ा भी गया, तो तू न रुकना। बम्बई पहुँच जायेगा, तो वहाँ भी पकी रसोई कहाँ तेरा इन्तजार कर रही होगी ! इनके भरोसे कुछ दिन तो कट ही जायेंगे। ये रुपये मैं सरदार की बेटी हन्सी से लाया हूँ। भूठ क्यों बोलूँ, बैरन पहले तो दे ही नहीं रही थी। कहती थी—‘बाबूजी दे कोलों मंगो तुसी !’ जब कहा, गाँव से जो मेरा ठाकुर भाई आया है उसे ज़रूरत है, तो दुपट्टा सम्भालने का शऊर भी नहीं रहा उसे ! क्या कहूँ वीरू, जब जवान पंजाबन लड़की के वक्ष का दुपट्टा सरक जाता है—क्षण भर में वह रुपए ले आई। मेरे हाथ में देते हुए बोली—‘ये लो जी रुपए। हौर सुणो जी, पैसे दे या न दे, तुसी ठाकुर दी मुलाकात साडे नाल कराओ। पण्डित जी, तुसी तो साडा पराहा है, ठाकुर दा पराहा है। पण्डित, तुमी उस नूँ’ मैंने कह दिया—‘लाऊँगा, बुला लाऊँगा। रसोईघर के पीछे मुलाकात कराऊँगा,’ सो इन रुपयों का असली हकदार तो तू ही है, ठाकुर !”

वीरेन्द्र की नज़र बाहर प्लेटफार्म पर ही गड़ी थी। बातों में पण्डित खो गया था। वीरेन्द्र देख रहा था—कोई टिकट-चेकर इसी डिब्बे की ओर तो नहीं आ रहा !

गाड़ी को एक भटका लगा। सीटी बजी गाड़ की, हरी भण्डो लहरी और भक्-भक् धुआँ उगलता इंजन आगे सरक गया।

दोनों की आँखों में चमक आ गई—चल, दोस्त, यहाँ तो बच गये; आगे भगवान मालिक !

“नींद तो नहीं आ रही, ठाकुर भैया ?”

“नहीं तो !”

“तो एक बात सुन ले,” पण्डित ने वीरेन्द्र का हाथ अपने हाथ में ले लिया—“वह बैरन हन्सी रसोईघर के चक्कर काट रही होगी, तेरे इन्तजार में ! दुपट्टा अब भी घड़ी-घड़ी सरक रहा होगा—उसकी आँखें क्या हैं, ठाकुर भैया ! खूबसूरती और जवानी औरत को अजीब बना देती हैं, यार ! भैया रे, उसकी मिन्नत—‘ठाकुर दी मुलाकात साडे नाल कराओ,’ अभी तक कानों में गूँज रही है । प्यार की मनुहार में बड़ी जबरदस्त कशिश होती है—फिर वह बैरन तो पंजाब की धरती का गुलमोहर है ! तीन साल से वह एक ही गाना ज्यादा गुनगुनाती है : ‘आ जा रे छोरूवा, आ जा, रे छोरूवा—मीठी-मीठी बंसी बजा जा, रे छोरूवा...!’ तुझे वह चाहने लगी थी । मैं उसे चाहता हूँ, इसीलिए चाहा था, कि तू दिल्ली से दूर चला जाये, तो अच्छा !”

“तो मुझे कह दिया होता, मैं खुद चला जाता ।”

“चुप रह ! मैं पकड़ा जाऊँ तो रुकना नहीं—मुझे बैरन दिल्ली की सड़के प्यारी हैं । दस-पाँच दिन बाजरे की रोटी सरकार के घर खाकर, दिल्ली लौट जाऊँगा । हन्सी से कह दूँगा, कि बैरी ठाकुर दगा दे गया !”

“बदनाम करेगा यों मुझे !”

“मुझे नींद आ रही है—अब सोने दे, ठाकुर भैया रे !”

८/बोरीवली से बोरीबन्दर तक

पण्डित खरटि भरने लगा ।

वीरसिंह की आँख जल्दी न लगी । वह सोचता रहा—मानव-प्रकृति भी कितनी विचित्र है ! तीन साल तक हन्सी के दुपट्टे को सरकता-लहरता देखता रहा, पर हाथ आगे न बढ़ा सका, मुँह से इतना भी न कह सका कि हन्सी, जरा सानूँ भी यार कह लिया कर !...मन ही मन ग्रह-नक्षत्र मिलाता रहा होगा, नौकर जो ठहरा, हिम्मत न पड़ती होगी ! पर अब सोचता है, जब वह ठाकुर को प्यार कर सकती है, तो मुझे क्यों नहीं ?

यही ख्याल तो उसे दिल्ली की ओर खींच रहा है ।

पलकों में नींद डेरा डालने लगी, तो वीरेन्द्र के चिंतन को धारा मुड़ गई । जो कभी न पूरे हुए, उन सपनों की भूमिका तैयार करने लगा, कि अब तो जिन्दगी संयोगों की चौड़ी हथेली पर विक्टोरिया के रुपये-सी पड़ी है ।

परिस्थितियों के नाखून-नटौरों पर जो खनकता-ठनकता है—
खरा है या खोटा !

°

°

°

जुहू की पुष्प-वेलि मण्डित बेंच पर लेटे-लेटे, 'शैल' मधुर स्वर में गीत गुनगुनाने लगा—“साँझ सिन्दूरी माँग लिए, किरन-डोले चढ़ी, विदा हो रही है, याद की जट्टी हिरणावर के नैनो में मोतियों के बुन्दे लटकाये पलक-भरोखों की चिक उठाने लगी है...ऐसे में... ऐसे में...काश !...तुम...काश !

“चन्द्रमुखी ओ, मृगनयनी ओ !”

“बड़ी मधुर आवाज है आपकी, बड़े सुन्दर शब्द हैं !”

“अब तो आ जाओ...ओ...

मेरे मन के आँगन में, सावन-घन-सी छा जाओ...ओ...

अब तो आ जाओ...ओ...

“उधर बैठी कोकाकोला पी रही थी, आपकी सुरीली आवाज, यहाँ तक खींच लाई। आपने मेरा नाम तो सुना ही होगा ? आपकी सुकुमार सलोनी भावना इस वीराने में ऐसी लगती है...”

“तुझ बिन खोया-खोया अम्बर,

धरती सून-सूनी—

आज पड़ी निर्धूम लगन की चन्दन-पूरित धूनी !

मधु बयार-सी नहको, मेरे सपनों को दुलरा जाओ...

अब तो आ जाओ...ओ...

“गाते-गाते आप जैसे स्वप्नों में खो जाते है !”

“चन्द्रमुखी ओ, अब तो...मृगनयनी ओ...ओ...”

“सुनिए...”

“गीत कैसा लगा ?” शैल के होंठों पर मुसकराहट उभर आई।

“मार्वलस, चोटी का ! ब्यूटीफुल, क्या खूब ! मेरा नाम सुना होगा आपने ? ‘एन’ से शुरू होकर एक ‘आई’ के बाद दो ‘एम’ को जोड़ता हुआ ‘आई’ पर ही खतम होता है...यों ‘आई’ का मतलब मराठी बोली में माँ होता है—लेकिन मैं आपसे आगरे के मशहूर मुहल्लों की नज़ाकती जुबान में बात कर रही हूँ...”

“आपका नाम मेने सुना है, छोटा है, लेकिन है शहद-सा मीठा !”

“और...”

“मेरा नाम ‘शैल’ है...उपनाम है। घर में लोग बिरुवा कहते थे। स्कूल में ठाकुर वीरेन्द्रसिंह विष्ट मेरा नाम दर्ज है। अपना कुमौली का पण्डित, जो ऊपर सोया है न, मुझे ‘ठाकुर भया, वीरू’ कहता

है !...”

“शैल’ ठीक है । शैली अंग्रेजी का बहुत बड़ा शायर हो गया है । मैं नया पिकचर बनाने जा रही हूँ । ‘शालीमार’ उसका नाम रखा है । इसमें हीरो अपनी साली को कत्ल कर देता है !...चाय पियेंगे आप ? ‘‘शोफर ‘‘शोफर ‘‘गाड़ी यहाँ ले आओ...‘‘ये मिस्टर साले... माफ कीजिएगा मि० शैल, हमारे साथ चलेंगे—हमारी पिकचर में...”

“भोंपू...भोंपू !”

“मि० शैल, बाल बड़े घुँघराले हैं आपके । नाक भी तोते-जैसी है । आइए, बैठिए ...”

“भोंपू ! भोंपू !”

“जरा बचा के, ड्राइवर, मोड़ बड़ा खतरनाक है !”

“देखिए इधर...मेरी तरफ...मेरी आँखों में ‘‘ड्राइवर, गाड़ी लड़ाओगे ?”

भोंपू ! खड़खड़...खड़खड़...धड़ाम-खच्च-पच्च !

“टिकिट ?”

“.....”

“ए मिस्टर, टिकिट !” अब के हाथ से हिलाया टिकिट-चेकर ने, तो वीरेन्द्र चौककर उठ बैठा । जुहू की बेंच बहुत दूर रह गई थी । ‘एन’ से शुरू होकर, एक ‘आई’ पर दो ‘एम’ का सिक्का चलाकर; ‘आई’ पर ही खतम होनेवाले नाम की हिरोइन की कार का एक्सीडेंट हो गया था ।

“जी, हम सर्वेंट...टिकिट हमारा साहब के पास । साहब हमारा बैरिस्टर परभू ! बम्बई हाईकोर्ट का हजूर !”

“तुम गुरखा हो ?”

“नेपाली हूँ, हजूर !”

“देखो, सवाई माधोपुर पर हम डबल चेकिंग करेगा, वहाँ अपने साहब से टिकट लेके हमको दिखाओ ! समझा ?”

“जी, हजूर !”

०

०

०

गाड़ी आगे बढ़ी पर पण्डित पीछे रह गया । उसे टिकट चेकर अपने साथ ले जा चुका था, क्योंकि उसने साफ कह दिया था—
“टिकट ? टिकट तो मेरे पास नहीं है ।”

पण्डित पकड़ा गया, अपनी लापरवाही से । लापरवाही से क्यों—जान-बूझकर । हन्सी के हिरगावर नैन जो इशारा करते थे, बैगनी दुपट्टा जो रह-रहकर सरक जाता था । दिल्ली जायेगा, तो हन्सी से कहेगा कि ठाकुर भैया तो रुपये लेकर पारसल हो गया—न जाने हन्सी क्या सोचेगी ? पहले कहती थी—‘रांभे दा नूर पाया है !’ अब कहेगी, ‘शकल मोर दी, दिल चोर दा !’...

पण्डित पीछे रह गया—जैसे वीरेन्द्र की जिन्दगी की गाड़ी का एक डिब्बा पीछे रह गया । एक अभाव-सा अनुभव हो रहा था पण्डित के बिना ।

वीरेन्द्र सोच रहा था—कभी माँ बिछुड़ गई, फिर भाई-बहन, पिता तो आँखों से देखे भी न थे—घरबार छूट गया । उनके-वीरेन्द्र के बीच का व्यवधान समानान्तर रेखाओं की तरह बढ़ता जा रहा है । गेह की, नेह की और स्नेह-स्मृतियों की ये समानान्तर रेखाएँ—
वीरेन्द्र कभी मिला पायेगा इन्हें ?

लगता है, नहीं । शायद, भाग्य-संयोग की तिर्यका ही कभी

इन्हें मिला पाए तो मिलाए ! ..

भाग्य-संयोग की बात आ जाती है ।

एक संयोग की श्रृंखला में अ-जाने कितनी ही कड़ियाँ—नाते-दारी की—जुड़ती हैं, टूटती हैं, जीवन को विश्रृंखल कर जाती हैं । जैसे बिलुड़ने के लिए ही सब मिलते हैं, पर उनकी स्मृति के भार से मन की कमर जो लचक जाती है, उन्मुक्त साँस लेना जो दूभर हो जाता है—जैसे स्मृति की, किसी के प्रति किसी कर्तव्य की, अलक्ष्य लगाव की यह रेशम-सा मुलायम, लोहे-सी मजबूत, जंजीर खींचे जाती है, किसी को किसी की ओर...

जैसे प्यूली की ओर पण्डित खिचता था, फिर लाली की ओर, और फिर हन्सी की ओर—कामना और लगाव की खींच बड़ी मोहक होती है ।

वीरेन को, जाने अ-जाने, माँ और भाई-बहन की याद जब भकभोरती है, तो जैसे अंतस-क्षितिज के पोर-पोर पर विषाद के बादल छा जाते हैं... वेदना के शूल स्मृतियों को छाती से लगाकर, उनके फूल-से कोमल अंग-प्रत्यंगों को बींध देते हैं—यह बींध, यह खींच बड़ी कड़वी होती है ! कर्तव्य और अपनत्व की—नाते-रिश्ते की खींच !

क्षण-भर के लिए वीरेन का ध्यान सरू की ओर गया ।

गाँववाले और घर के लोग उसे सरस्वती कहते थे । सरू उसे केवल उसकी माँ कहती थी, या वीरेन्द्र ।

सरू की स्मृति यदा-कदा आ जाती है अब भी, जैसे उन दिनों लुक-छिपकर सरू आ जाती थी उसके पास—“वीरू, गाँववाले न देख लें कभी !”

“गाँववालों से इतना डरती है, तो आई क्यों ?”

“तुमसे भी तो डरती है !”

“मुझसे क्यों डरती है तू ?”

“जैसे...जैसे...” सरू के कपोलों पर लज्जा के कपोत पर फड़-फड़ाने लगते—“तेरे बिनुवा वहाँ से मेरी कजरी कलड़ी डरती है !”

बिनुआ वीरेन्द्र का बड़ा लड़ाकू बछड़ा था; कजरी सरू की चंचल बछिया । वीरेन्द्र मुँह बनाकर पूछता—“कजरी बिनुआ से क्यों डरती है ?”

सरू कहती—“क्योंकि तेरा नटुवा बिनुवा उसे मारता है ।”

“लेकिन बिनुआ के पास, खुद ही दौड़-दौड़कर कजरी फिर-फिर क्यों आती है ?”

“मैं तेरे पास क्यों आती हूँ, रे ?” शरम का दुपट्टा परे कर, सरू वीरेन्द्र की बाँहों में सिमट जाती ।

छानी गाँव के चरण धोती सुप्याल नदी बहती है । सुप्याल के पानी में मछलियाँ बहुत पनपती हैं—असियाल, चित्तलू, पपडुवा, गिघड़, गडेरा—जात-जात की मछलियाँ । छानी-अवै-तिलाड़ी के गाँव में सुन्दरियाँ बहुत पनपती हैं—सोर पिठौरागढ़ की रौतानियाँ, जो ससुराल में मायके के गुण गाती हैं और मायके में ससुराल के । रीठागढ़ की विष्टानियाँ, जो तेरह-चौदह बरस की उमर में ही अपनी गोद भर लेती हैं—छानो के खेतों में धान और औरतों के लहरने की रफतार एक है !...

सुप्याल का जल गर्मियों में कम हो जाता था, पर छानो-तिलाड़ी की तिरिया के कपोल धूप में बिनसर के सेवों-से आबदार हो जाते ।

वीरेन्द्र छानी को ही बगल में सुपै गाँव में रहता था ।

छानी गाँव सरू का था । सुप्याल नदी के किनारे-किनारे उसके धान के खेत थे । उसके पिता गाँव के पधान थे ।

वीरेन्द्र उसे छेड़ता—“सोरे की पीरुलि पधानी वे, पाणि पीजा, पाणि !” सरू, जब तू किसी गाँव की पधानी बन जायेगी, तो मैं तुझे यों ही बुलाया करूँगा !”

“हट रे ! मैं तो तेरी ही पधानी बनूँगी !”

“मेरी ! मैं तो पधान नहीं, सरू ! चाचाओं के आश्रय में पल रहा हूँ । लानन-मलानन की दो गोटियाँ कैसे जुटा पाता हूँ, तू क्या जाने ?” वीरेन्द्र की आँखें गीली हो जातीं । सरू अपने पिछौड़े की पोर से उसकी आँखें पोंछती; उसका सिर खुजलाते हुए बात बदलने के लिए कहती—“तेरे सिर में जुएँ पड़ गई हैं ।”

फिर कहती—“आज रामब्राण का मैण डालकर, मच्छी न मारेगा ! चल, मुझे मच्छी पकड़ने में बड़ा मजा आता है ।”

“मुझे तो तेरी लटी पकड़ने में मजा आता है,” वीरेन्द्र उसकी नागिन-सी लोटती लटी खींच लेता । अवसाद का सारा बोझ उतर जाता । उदासी छूमन्तर हो जाती और सुप्याल-किनारे की गुफा के अन्दर दोनों एक-दूसरे को अपनी बाँहों में कस लेते । सरू के अधर वीरेन्द्र के अधरों से फूल-भँवरे से, चक्की के पाट और सुप्याल के घाट-से सट जाते । चिराले की पगडण्डी पर कोई गा उठता—

“रहट की तान,

कैले चाखी किरमड़ा-कसी, कैले करा दान !”^१

१. कौन ऐसा भाग्यशाली है, जो तेरे जीवन-सौंदर्य का उपभोग कर रहा है !

और आज हजारों मील के व्यवधान पर, गाड़ी की छुक-छुक से ताल मिलाती माँ-भाई-बहन और सरू की स्मृतियाँ संगीत में ढल कर पास आ रही हैं, क्योंकि वे सब उसके प्यार की भुजाओं के बंधन से बहुत परे हैं। हजारों मील दूर ..

कहाँ वह सुप्ताल नदी का घाट और कहाँ यह लक्ष्यहीन यात्रा !

०

०

०

सवाई माधोपुर में जब गाड़ी रुकी, वीरेन्द्र की आँखें टिकट-चेकरों को खोजने लगीं। भोचा, बाहर निकलते ही कोई पकड़ न ले ! यहाँ सर्वेंट डिब्बे में बैठे-बैठे बचाव का रास्ता तो था !

चायवाला 'गरम चा, गरम चा' कहता गुजरा, तो परेशानी बाँटने के लिए एक कप चाय ली। छोकरा बोला—“बाबू, कप जरा ठीक से पकड़ो नहीं तो चाय कपड़ों पर गिरेगी।”

हाँ, गिरेगी तो ! संतुलन न रहे, तो हर चीज गिर जाती है। फिर जिन्दगी में संतुलन नहीं, तो हाथ कैसे स्थिर रहें ? मन कैसे स्थिर रहे ? हजार उलझनें, हजार धड़कनें—समन्वित कौन करे ? संयम की तराजू पर तो कोई डण्डी मार रहा है।

यह लक्ष्यहीन यात्रा, यह निरावलम्ब जीवन, धुँधला भविष्य, यह सवाई माधोपुर...गढ़वाली टिकट मास्टर...

खोए-खोए ही वीरेन्द्र लेट गया। तभी गार्ड ने सीटी दी। चायवाला छोकरा पैसे माँगने आया। पैसे देकर, बाहर की ओर भाँका, तो बाहर गढ़वाली टिकट-चेकर खड़ा था। वीरेन्द्र झिझका, मास्टर मुसकुरा दिया।

गार्ड की हरी भंडी की तरह, हाथ हिलाते हुए, विदा दे गया—
“परभू, तिमिलाई सुखी राखऊ।”

...अतीत के पृष्ठ पलटते, भविष्य के परिच्छेद जोड़ते जब थक गया, तो लेट गया वीरेन्द्र। सोचने से, सीमा से अधिक सोचने से थकान और बढ़ती है, घुटन और बढ़ती है। अस्तु सपन-पालने में कल्पनाओं के सद्यःजात शिशु को अंगूठा चूसते छोड़ दो—उसकी केवल मीठी, तुतली किलकारी में विषाद की काली छायाएँ सिमट-सिकुड़कर मन के सीमान्त प्रदेश के परे चली जाएँगी...

स्वप्न जिंदगी के घावों की मरहम-पट्टी है।

वीरेन्द्र की जब आँख खुली, फ्रन्टियर मेल विरार स्टेशन पर रुकी थी।

“बहुत लम्बा सोता है, बाबू ?” आवाज आई।

वीरेन्द्र ने पलटकर देखा। ऊपर से एक सरदारजी, बावर्ची की ड्रेस पहने, कौवे की तरह नीचे भाँक रहे थे।

“यों ही नींद आ गई थी, सरदारजी !”

“वा, बादशाओ ! त्वाडी ‘यों ही नींद’ दी रब खैर करे। सवाई माधोपुर से यहाँ तक सोया-ही-सोया चला आया !”

“यह कौन-सा स्टेशन है, जी ?”

“विरार !”

“बम्बई और कितनी दूर है ?”

“बस, तीन-चार गज और रह गई है !” सरदारजी हँसकर बोले—“यह फ्रन्टियर मेल भी, रब सों, क्या फास्ट, क्या तेज, क्या रफ़्तार से चलती है ! वा, वा !...तुम फिर ऊँघने लगे ?”

“थका हुआ हूँ।”

“बगर औरत के हो ? यार, औरत मद का सबसे बड़ी थकान

है !...लाल दुपट्टेवालियाँ...सौणी...तुम्हारा साहब कौन-सा है ?”

“मेरा साहब कोई नहीं है !”

“क्यों ? टिकिट बाबू से तो कहता था—साहब के पास मेरा टिकिट है !”

“गप्प थी ! ठीक था...मेरे साहब बम्बई के हाईकोर्ट में बैरिस्टरी करते हैं ! तुम्हारा साहब...”

“साडा साहब बड़ा कमीना है, यार ! उस दी धी नूँ सेंडिल देन जाओ, तो सेंडिल दे बदले हथ फड़ लेंदी है—‘सरदार-अ-अ...’; बाप कहे, ‘बदमाश, लड़की से आँख लड़ाता है !’...यार, मैं इत्थों बोरीवली ते उतर जाएगा...”

°

°

°

फ्रन्टीयर मेल आगे बढ़ी जा रही थी ।

पर वीरेन्द्र के मन का फ्रन्टीयर विपरीत दिशा की ओर, सिंगल पटरी पर दौड़ रहा था—उसके स्टेशन थे माँ, भाई-बहन, पंडित और जंकशन थी सरू !

दो

तभी दादर स्टेशन आ गया ।

जैसे भेड़ें हरी घास देखते ही दौड़ पड़ती हैं—ट्रेन देखते ही कुली और टिकिट-चेकर लपके ।

“तुम्हारा टिकिट ?”

“जी, मेरा……” वीरेन्द्र कुछ डिग गया—“मेरा टिकिट साहब के पास है ।”

एक मराठी सज्जन चिढ़ रहे थे, उन्हें अपना टिकिट नहीं मिल पा रहा था । बोले—“टिकिट काय बगते, मास्तर, माभा तोंड बगा ! मी तुमाला फुकट चोर सरीखा दिसतो काय ?”

मास्टर पारसी था । कह रहा था—“तारो मौडम तो हूँ पछी जोई लईश । पहिला मने जरा तारो टिकट तो बताव !”

“तुम्हारा साहब किधर है ?”

“फर्स्ट क्लास में !”

“चलो, हमको बताओ !” इशारे से, वीरेन्द्र को बाहर आने के लिए कह, टिकिट-चेकर ने नाक मलकर एक छींक मारी। अब वीरेन्द्र घबराया। इतना मालूम था कि सर्वेंटों के टिकिट अधिकतर उनके साहबों के पास रहते हैं, पर अब बताए किसे ? यह मास्टर तो जिद्दी लगता है।

“हमारा मुँह क्या देखता है ?”

“चलो, मास्टर !”

और अपना साहब बताने के बहाने, वीरेन्द्र ने फर्स्ट क्लास के डिब्बों में भाँकना शुरू किया। फिर एअर कंडीशंड डिब्बों की बारी आई।

“ये फर्स्ट क्लास के डिब्बे थोड़े हैं ?” अब के मास्टर ने वीरेन्द्र का कंधा पकड़ लिया। मुँह अपनी ओर फेर, संशयात्मक ढँग से, पूछा—“सच कहना, बंडल तो नहीं मारता है ? टिकिट तुम्हारा साहब के पास—और तुम्हें साहब का डिब्बा तक मालूम नहीं ?”

“मास्टर साहब,” वीरेन्द्र बोला—“दिल्ली स्टेशन के प्लेटफार्म पर हम बेकार घूमता था। साहब का, जो बम्बई का एक बड़ा डॉक्टर है, सामान उनके डिब्बे में चढ़ाया था। साहब ने पूछा—‘तुम गोरखा है ? हमारे बँगले पर पहरा मारेगा ?’ हम राजी हो गया। साहब बोला, ‘हम तुम्हारा टिकिट अपने पास रखेगा। तुम सर्वेंट...’”

मास्टर हँस दिया—“क्यों भूठ बोलते हो, दोस्त ? भूठ बोलने से तुम्हारे मासूम चेहरे की रौनक बिगड़ रही है ! तुमने खुद साहब के डिब्बे में सामान चढ़ाया और खुद तुम्हें यह पता नहीं कि साहब कौन-से डिब्बे में बैठा है ? दिल्ली से बम्बई तक के लम्बे

सफ़र में न साहब को तुमने देखना चाहा, न साहब ने अपने बैंगले के पहरेदार को ?...तुम्हारा कुछ सामान है अन्दर ?”

“जी, एक बैग है ।”

“चलो, ले लो । ए, हवलदार...”

वीरेन्द्र की आँखें भर आईं । सूटकेस हाथ में लिए उतर पड़ा । हवलदार बोला—“विद आउट मदि घरला काय, मास्तर ? घेऊन जाऊँ काय लाकप मदि ?”^१,

मास्टर बोला—“यह तो मेरा छोटा भाई है । तुम जरा रूम में दो चाय भेज देना ।”

वीरेन्द्र मास्टर की ओर कृतज्ञ नेत्रों से देखता रह गया ।

“वाजपेई,” असिस्टेंट स्टेशन मास्टर बोले—“इज इट योर ब्रदर ?”

वाजपेई केवल मुसकरा दिए ।

“तुम्हारा नाम बहुत बदनाम हो रहा है, वाजपेई !”

“हाँ, मास्टर !” वाजपेई हँस दिए—“इसलिए कि मैं बिना टिकिट यात्रा करनेवालों को छोड़ देता हूँ !...यह उल्लू भी भूठ बोलता था !...देखते हो, मास्टर, इसे ?...लगता है, जैसे पहली बार दुनिया में आया है । इसीलिए जब भूठ बोलता है, तो शरमा जाता है ! बातें ऐसे करता है, जैसे कुली हो । पर, स्टाइल ऐसी कि जैसे लेखक हो !...ए दोस्त, सच बताना, ग्रेजुएट है न !”

“जी नहीं, मैट्रिक-पास हूँ !”

१. बिना टिकिट यात्रा करते पकड़ा गया, मास्टर ? ले के जाऊँ हवालात में ?

“नाम क्या है ?”

“जी, वीरेन...”

“वीरेन...वाह, क्या सुंदर नाम है !... यहाँ नौकरी ढूँढने चले आए ? कहीं नातेदारी-रिश्तेदारी है ?”

“जी, नहीं ।”

“फिर ?”

“भाग्य-भरोसे चला आया हूँ ।”

“देखो, भाई, भाग्य के भरोसे ही सब-कुछ छोड़ देना बुद्धिमानी नहीं । इतने बड़े बम्बई नगर में, बिना जान-पहचान के, बिना पैसे के... यहाँ तो जीना एक बहुत बड़ी समस्या है । ऐसा न हो, कि यहाँ अपना जीवन बर्बाद कर बैठो ।” वाजपेई का स्वर आर्द्र हो गया था—“तुम जाओगे कहाँ ?”

“आप छोड़ देंगे,” वीरेन एक कातर हँसी हँस दिया—“तो पहले इस स्टेशन से बाहर निकलने की कोशिश करूँगा ।”

वाजपेई हँस दिए ।

बोले—“चलो, मेरे साथ ।” गेट से बाहर पहुँचाकर, बोले—“मेरा ‘एड्रेस’ नोट कर लो । कभी किसी किस्म की तकलीफ पड़े तो मेरे घर आ जाना । संकोच मत करना । मैं भी उत्तर भारतीय हूँ...”

वीरेन ने उन्हें नमस्कार किया और आगे बढ़ गया ।

तीन

दादर स्टेशन से बाहर निकल जाने के बाद, वीरेन ने भूखे पेट पर चिपकी हुई कमीज को सहलाया, फिर सामने शिवाजी हिन्दू विश्रान्ति-गृह की ओर मुड़ गया ।

“काय पाहिजे ?” छोकरे ने कान में खोंसी हुई पेंसिल को हाथ में लेकर, घुमाते हुए पूछा—“काय आण, साहिब ?”

“मैं तुम्हारी बात कुछ समझा नहीं, भाई,” कहते-कहते, वीरेन ने अपनी दृष्टि सामने टेंगे ‘मेनू’ पर डाली, उसके पढ़ने के साथ-साथ छोकरा बोलता गया—

“पुरी भाजी, पुरी पातलभाजी, सादा डोसा, मसाला डोसा, उपमा, उत्तप्पा, मिक्स भजीया, बटाटा पोहा—सीरा”...

“एक कप चाय ले आओ,” अन्यमनस्क-सा वीरेन बोला—
“यह ‘सीरा’ क्या होता है ?”

उत्तर की जगह, छोकरे ने, चाय के कप के साथ, एक प्लेट सीरा भी रख दिया ।

थोड़ा-सा चखा—अरे, यह तो हलुवा ही है, कुछ-कुछ स्वाद अलग जरूर है ।

कुछ क्षण बीरेन अपने भविष्य को मस्तिष्क के साए में टटोलता, भावनाओं के फूल-पत्तियों से सँवारता रहा । मुड़कर सड़क की ओर देखा, फिर कुछ क्षण आने-जानेवालों में खो गया ।

एक कुली हाथ-गाड़ी पर ब्रोम लिए गुजरा, कुछ मस्ती में था, हर कदम नपा-तुला पड़ रहा था । बीरेन ने सोचा—इसका वर्तमान तो ठीक है, निश्चित है, भविष्य कुछ भी हो । मेरा वर्तमान एक अनखिंची लकीर, एक धुंधले 'निगेटिव' फोटा-सा है । भविष्य का चित्र इस 'निगेटिव' से स्पष्ट-स्वच्छ हो सकेगा—किसे मालूम ! काश, कि जरा-सा आभास ही होता भविष्य का ।

लेकिन यह अनखिंची लकीर भाग्य के हाथों सीधी खिंचेगी या टेढ़ी—आड़ी-तिरछी या शून्य की भाँति वृत्ताकार, किसे मालूम ? इस 'निगेटिव' का स्पष्ट रूप कैसा होगा—लुभावना या विकर्षक-कौन जाने ?

“आणखी काय, साहिब ?”

“साहिब कहते हो तुम ?” बीरेन ध्यान टूटते ही, टूटे स्वर में, बोला—“इतना तो समझा, क्योंकि होटलों के छोकरे हर किसी ग्राहक को सा'ब कहते हैं, चाहे वह दरिद्र हो क्यों न हो !...बाकी तुम यह 'आणखी'-'पाहिजे'-'काय' क्या कहते हो, मुझे.....”

“क्या करेंगा, साहिब,” छोकरा हँसकर बोला—“हम तो मद्रासी है, पर इंदर ज्यादा मराठी आता; हम ज्यादा

करके मराठी में ही 'आर्डर' लेता-देता ।”

“तो,” वीरेन ने पूछा—“पहले तुमने मुझसे मराठी में पूछा था ? क्या पूछा था ?”

“काय पाहिजे” का मतलब ‘आपको क्या होना’ होता, साहिब,” छोकरे ने उत्तर दिया—“और ‘आणखी काय’ का मतलब ‘और आपको क्या होना’ ?”

उसके भाषा-प्रयोग पर, चिंता की स्थिति में भी, हास्य की एक मुक्त लहर वीरेन के अधरों पर लहर गई ।

“अच्छा एक चाय और लाओ !”

चाय आ जाने पर, एक चुस्की ले, वीरेन बोला—“दोस्त, बातें करने से कुछ मन हलका हो जाता है, जैसे……”

तभी पीछे की टेबुल से ‘ओ, आर्डरवाला ! ओ, आर्डरवाला !’ की आवाज आई । ‘आया, साहिब ! काय पाहिजे ? मिसल ? एक प्लेट मिसल ! एक चा ? एक चा भी साथ में आवे ।’ की आवाज लगाकर, आर्डरवाला मद्रासी युवक फिर वीरेन की ओर मुड़ आया । सामने से टेबुल साफ करनेवाला छोकरा हाथ में खाली प्लेटें लिए लौट रहा था, दोनों टकरा गए । वीरेन के पायजामे पर भजीया की बची हुई चटनी गिर गई ।

“काय रे, डोले असल्यातरी अंधाला-सा रखा चालतो, कां ? साहिबाची पेण्ट खराब करून टाकली ?” कहते-कहते मद्रासी युवक हाथ में लिए हुए छोटे तौलिए से वीरेन का पायजामा साफ करने लगा, फिर बोला—“माफ करना, साहिब ! जारे, पांडुरंग आतां माभा फटका घेऊन ये !” और अपना छोटा तौलिया उस छोकरे को थमाकर, दूसरी टेबुल पर ‘आर्डर’ लेने चला गया । लौटा, तो

वोरेन ने पूछा—“अभी तुम उस छोटे लड़के को ऐसा डोली असलाते या अंधीला सरीका……या क्या कहते थे ?”

मद्रासी बोला—“जो हम बोला, मराठी । इसका मतलब, ‘आँख का रह भी अंधा सरीका चलता क्या ?’ ” फिर दूसरी मेज पर चला गया ।

वीरेन सोचता रहा—कभी-कभी सचमुच, आँखों के रहते उनका उपयोग नहीं हो पाता । आँखें क्या देखना चाहती हैं, क्या देखती हैं । रात को कल्पनाओं के मधुर स्वप्न, दिन को जीवन का कटु यथार्थ । नीम चढ़े करेले से भी तोत्त ।

“और कुछ आपको होना, साहिब ?”

“नहीं, भाई,” वोरेन बोला—“दोस्त, तुम मुझे ‘साहिब’ कहते हो, मैं ‘साहिब’ दिखता हूँ तुम्हें ? यह फटी पायजामा, यह गाढ़े का कुर्ता……”

“आदमी का कपड़ा केवल ‘आउट-फिटिंग’ होता, उसका ‘रियल परसनैलिटी’ उसका चेहरा होता । हम तुमरे चेहरे को ‘रीड’ किया, आप बड़ा खानदान का आदमी होना माँगता ।”

“तुम्हारा नाम, भाई ? तुम शायद ‘इंगलिश’ बोलना जानते हो ?”

“हमारा नाम, रामस्वामी !” मद्रासी बोला—“धेस, ब्रदर, आई कैन टॉक इन इंग्लिश वेरी वेल । हमारे फादर का नाम मुत्तु स्वामी । बट, तुम अमेरे से हिंदी में बात करना । हम एक-दो महीना का बाद हिंदी का परीक्षा में बैठने को माँगता । हम हिंदी का आजकल अघे-अद्वेनें……क्या कहता, उसको ? ‘स्टडी’ को हिंदी में क्या होता ?……”

और वह अपनी अज्ञता पर हँस पड़ा । वीरेन ने उसे बताया कि 'अध्ययन' होता है । तभी दुकान में भीड़ बढ़ गई, अन्यत्र जगह न होने से, कुछ व्यक्ति वीरेन की कुर्सी की बगल में खड़े हो गए । बड़ी सुन्दर खुशबू आ रही थी । वीरेन ने देखा—उनमें जो मराठी युवती थी, वेणी बड़ी सुन्दर गुंथी थी उसकी, फूलों से मनमोहक गंध फैल रही थी । वह भी सुन्दर थी, फूल-सी ।

वीरेन उठा—

“अभी गिर्दी बहोत हो गया, आप फिर कभी आओ, साहिब ! आप हमारे को अच्छा लगता ।” मद्रासी बोला, और वीरेन के काउंटर तक पहुँचते-पहुँचते, जोर से उसने आवाज दी—“दो आना आगल बाबा का, चार आना पाछल काला टोपी ।”

वीरेन ने चार आने दिए, पीछे मुड़कर देखा, काली टोपी को उतारकर हाथ में लिया, धूल जमी थी, हलके हाथ से झाड़ी और एक भारी साँस लेकर बाहर सड़क पर आ गया । टैक्सीवाला बोला, “ऐ बाबू, दारू पी के आया है क्या ?”

०

०

०

पौन-एक घण्टा न० चि० केलकर और दूसरी सड़कों पर घूमता-फिरता वीरेन शिवाजी पार्क की दीवार पर आकर बैठ गया । लगता है, जब हाथ-पाँव थक जाते हैं, अवयव श्रान्त हो जाते हैं, जैसे मन-मस्तिष्क और चेतन हो उठते हैं, फिर चाहे जागरण की दिशा में या स्वप्न की ।

वीरेन सोचता रहा ।

इन राहों पर कितने प्रकार के राही चलते हैं, इस मन के पंथ

पर कितने विचार-राही आते-जाते रहते हैं, ठीक ऐसे ही, इसी क्रम से, आने-जाने का, कुछ सोचने-परखने का सामान जुटाते हुए। जैसे यह देखना, सोचना, परखना ही जीवन का पाथेय हो।

फिर यह देखना-सोचना भी कितना विचित्र, नाप-जोख से परे। कभी कौतूहल, तो कभी समाधान, कभी चिंता तो कभी एक मन का सारा बोझ हलका कर दे—ऐसी अलहड़ता।

और ये बच्चे कितनी उन्मुक्त साँसें हवा में छोड़ते हैं, कितनी अदम्य उमंग से जाने-न-जाने खेल खेलते हैं, कि मुट्टी में छटाँक-भर धूल नहीं, बड़े-बड़े महलों से भी सुन्दर घरोंदे बन रहे हैं। मुट्टी-चार मुट्टी के इन मिट्टी के राज-प्रासादों में कितना अमन-चैन है !

याद आते हैं अमन-चैन के कुछ ऐसे ही क्षण, मन को कुरेद जाता है अलहड़ता का कुछ ऐसा ही धूल-सना इतिहास !

यह मिट्टी भी कैसी माँ है। इसकी गोद में, गोद में पड़ी हरे शाल-सी दूब-घास में सब कहीं, हर किसी के बच्चे यों ही जाने-अ-जाने खेल खेलते रहते हैं, मुट्टी-चार मुट्टी मिट्टी में अमन-चैन के ये राज-प्रासाद, सारे कलुष, सारी कुठा, समस्त दुःखों से परे।

कभी वीरेन ने भी तो अमन-चैन के ये राज-प्रासाद बनाए होंगे ! बनाए थे, कुमौली के उस पंडित के साथ, जो सवाई माधोपुर में बिछुड़ गया; सरू के साथ, बसंत पंचमी को जिसके लिए साटन का पिछ्छोड़ा लाया, तो दो बूंद आँसुओं से भिगोकर पानेतोली के तालाब में पत्थर बाँधकर डुबा दिया; गौरी भैंस के साथ, जिसे कंटीली भाड़ियों से घास निकाल-निकालकर खिलाया, पर दूध देने के दिन

आए, तो धनधार के भ्योल^१ से गिरकर दम तोड़ गई; बुरुंशी के फूलों के साथ, जो जेठ आते ही कुम्हला गए; लाली-बाली बकरियों के साथ, जिन्हें हव्वन बूचड़ खरीद ले गया; और अबोले भाई, अनव्याही बहिन के साथ, जो लाड़-प्यार के दिनों में ही इतनी दूर चले गए, इतनी दूर चले गए... ओह, कितनी दूर चले गए, कि जैसे यहीं आकर ये सारे घरोंदे—मुट्ठी-चार मुट्ठी के राज-प्रासाद उजड़ गए हैं, वीरान हो गए हैं, कि जैसे जीवन की सारी उमंगें लुट गई हैं, कि जैसे—कुछ ऐसा कि जैसे कुछ भी नहीं रह गया है

मैली कमीज की कोर से आँखें पोंछीं तो कमीज और मैली हो गई जैसे, कल्पना-भावना के उजड़े-वीरान मुट्ठी-चार-मुट्ठी के राज-प्रासादों की सारी मिट्टी आँसुओं के बहाने, साँसों के सहारे, बहकर कमीज पर जम गई हो ।

सामने मिट्टी हवा के सहारे उड़ती, हवा को मैला कर रही थी । एक बड़ा घरोंदा बन रहा था, जो शिशुओं के अल्हड़-कोमल हाथों नहीं, कर्मशील श्रमिकों के मजबूत हाथों बन-सँवर रहा था । बनेगा, शायद, सैकड़ों वर्ष तक न टूटेगा; क्योंकि इसकी नींव में पुरुषार्थ है ।

पुरुषार्थ—यदि जीवन-घरोंदे की नींव में भी हो तो ? जीवन भी इतना ही सुदृढ़, इतना ही सुघड़-सुन्दर न हो सकेगा ?

पुरुषार्थ की बात आते ही, वीरेन के विचार-तन्तुओं को एक झटका-सा लगा । लेकिन वह आखिर पुरुषार्थ भी कहाँ करे, उसके

लिए भी तो क्षेत्र चाहिए, आधार चाहिए, राह चाहिए । लगता है, सारी राहें बनाए नहीं बनतीं, कोई आधार ढूँढे नहीं मिलता ।

तो कहाँ जाए, क्या करे ?

इस दीवार से सिर पटके ? आते-जाते मुसाफिरों से टकराए, इन नादान बच्चों के साथ खेले-कूदे ? पागल न कहेंगे ? कौन कहेगा, 'भाई, तुम हमारे बच्चों के साथ खेलते रहे, उनका जी बहलाते रहे, चलो इन्हीं के साथ हमारे घर चलो, तुम्हारा मन अशांत लगता है, वह भी बहल जाएगा ।'

कौन कहेगा, 'तुम्हारे थके-हारे चरण आधार ढूँढते हैं, हमारे कंधे का सहारा लो'...

कोई न कहेगा । कहेंगे, 'देख के नहीं चलता, बच्चों को छेड़ता है, रुलाता है ।' कोई मन के घाव न पूरेगा, न बहलाएगा, और गहरे कर देगा, और कुरेद देगा ।

बड़े स्नेह-विहीन, रुक्ष चेहरे इन राहों पर आते-जाते हैं, बहुत कड़वे-तीते विचार-राही मन के कंकरीले-पथरीले पथ पर भावनाओं की कोमल-हरी लहलहाती दूब को रोंदते हैं; चैन का गला घोटते हैं.....

पर, एक है जो सदैव कोमल-स्निग्ध, सदैव मधुर-आकर्षक रहती है—नारी ।

तो क्या उस मैडम की बगल से गुजरे ? जितनी ऊंची सैंडिलें हैं, उतना ही मन ओछा हुआ तो । माँ-बहिन की तरह कौन उसके दुःखी मन, भीगे चेहरे को पढ़ेगा, समझेगा, दुलराएगा ?

यह फटी-मैली कमीज और पायजामा—कौन उसे पास आने का इशारा करेगा, कि जैसे कली की पँखुड़ियाँ हवा के झोंके में लहर

३०/बोरीबली से बोरीबन्वर तक

कर, किसी भँवरे को न्यौता देती हैं—पास आने का न्यौता, कुछ क्षण के लिए ही सही !

मानव-मन भी विचित्र है, हजार दुःख हों, प्रणय-अभिसार, सीधे कहें तो छेड़-छाड़, आँख-मिचौनी की बात एक फुरहरी उठा जाती है, एक पुलक जगा जाती है; वह सुनी गई हो, की गई हो—या बस सोची गई हो !

और हाँ, इस मार्च की पहली तारीख को वीरेन के जीवन की, खुरदुरी ही सही, रेशमी डोर में चौबीसवीं सुनहरी गाँठ पड़ेगी । चौबीस बुरुंशी के फूल खिलेंगे-महकेंगे; चौबीस बार सरू की याद आएगी । चौबीस बार मुट्ठी-चार मुट्ठी के राज-प्रासादों की वीरानी पर पलकें भी स्यात गीली हों ?

लोग हल्ला-हो मचा रहे हैं, सामने जो कार खड़ी है, राजकपूर की है । तो क्या उसके स्टार्ट होते ही, उससे जाकर टकरा जाए ?

अस्पताल की मुनायम खाट पर पड़े-पड़े जब मूर्छना दूटेगी, होश आएगा—राजकपूर सिर झुकाए क्षमा-याचना न करेंगे ?

तब वीरेन कहेगा, 'जो नहीं, आपका क्या दोष ? सच पूछिए, तो मैं अपनी धुन में था, एक अच्छा-सा गीत याद आ गया था, उसे.....'

तब, बात काटकर, राजकपूर पूछेंगे—'क्या आप गीतकार हैं ?'

और फिर.....

वीरेन ने आँख फिराई, हल्ला-हो थम चुका था, राजकपूर की कार जा चुकी थी । नरगिस के दुपट्टे की कोर खुले दरवाजे से बाहर भाँक रही थी.....

बस ।

तो क्या जाकर, वहाँ से कूदकर डूब जाए, जहाँ सब तख्ते के सहारे पानी में उछल-कूद रहे हैं ? पर, वहाँ डूबने-भर की गहराई कहाँ होगी ?

तो क्या इन खामोश खड़ी बिल्डिंगों, इन न टूटनेवाले बड़े-बड़े घरोंदों से सिर टकरा-टकराकर मर जाए ?

सामने वह बड़ा अघूरा घरोंदा पुरुषार्थ के हाथों उठ-सँवर रहा था । तो क्या मिट्टी-माँ की इस सिमेंट-पत्थर-भरी गोद में ही आश्रय ढूँढा जाए ? मिट्टी का आश्रय बड़ा, शायद सबसे बड़ा आश्रय होता है ।

भावना के सहारे, यंत्र-चालित-सा वीरेन उठा, बढ़ा ।

सुना, दो मजदूर भगड़ रहे थे ।

एक कह रहा था—“ठेकेदार साहब, इसको उतनी सख्त जरूरत नहीं पैसों की, जितनी मुझे । लालू को बुखार है. तो वैद्य-डॉक्टर कहाँ से लाऊँ ? और, साहब, घरवाली की गोद में दूसरा नमूना आने ही वाला है, उसके लिए कुछ बन्दोबस्त करना पड़ेगा । साँवलराम करसनदास ने चावल-आटा उधार देने से ना कर दी है ।”

“और, जो साहब, मेरे गले में फाँसी लगी हुई है ? हेतू की माँ गारा ढोते-ढोते गिर पड़ी थी, अस्पताल में पड़ी है । बड़ा बेटा जम्सू दादा के छोकरों के साथ दारू ले जाते पकड़ा गया था, काला चौकी के ‘लॉक-अप’ में पड़ा है । उसकी जमानत का बंदोबस्त करना है । साहब ! आज पैसे मुझे ही दीजिए ।”—दूसरा कह रहा था ।

साहब ने कहा—“क्या टें-टें लगा रखी है ? चलो, काम करो । आज दोनों में से किसी को पैसा नहीं मिलेगा ।”

वीरेन के ठिठके पाँव, काना बिल्ली देखे तीरथ-यात्री की तरह,

३२/बोरीवली से बोरीबन्दर तक

पीछे मुड़ गए । पीछे मुड़ते, एक बहन जी से टकरा गया । उन्होंने 'ऊँह' करके मुँह बिचकाया, और चल दीं । वेणी में फूल गुँथे थे । मनमोहक गंध बिखर रही थी, फूल-सी कोमल-सुन्दर वह न थी पर,...

बीरेन सोचता रहा, इधर की औरतें ये कैसे ब्लाउज पहनती हैं, कि कसी हुई चोलियाँ, उनकी फुनगे लगीं गाँठें बाहर दिखती हैं कि जैसे चोर-दरवाजे से किसी का प्रीतम-पंछी उड़ा जा रहा हो...

मस्तिष्क की नसें और कसती गई, बीरेन फिर पार्क की दीवार पर बैठ गया ।

चार

नारियल-वृक्षों की छाया पश्चिम की ओर सरकती गई । छाया-तले सोया वीरेन; उसकी आत्मा का राजहंस, अपने दुग्ध-धवल पंख पसार, दूर कहीं स्वप्नों के मानसरोवर में जा पहुँचा ।

स्वप्नों के मानसरोवर से जब राजहंस लौटा, चन्द्रमा धरती का घर-आँगन किरणों से लीप रहा था । समय की सुई, रात के प्रथम-प्रहर, उम्र की आठवीं सीढ़ी पार कर चुकी थी ।

महालक्ष्मी रेस्टोरेंट में चाय का कप हाथ में उठाते, वीरेन की दृष्टि दीवार-घड़ी पर गई—रात के साढ़े आठ बज चुके थे ।

होटल से बाहर निकलकर, वीरेन सीतलादेवी टेम्पल रोड की लम्बाई नापता रहा । जितनी ही यह लम्बाई नप रही थी, अंतर्द्वन्द्व की डोर और लम्बी खिंची रही थी, और उलझ रही थी ।

इस उलझन, इस खिंचाव से बचने के लिए मन को कहीं और

१४/बोरीबली से बोरीबन्दर तक

केन्द्रित करना होगा, शायद, बहल जाए। वीरेन ने दाँए-बाँए देखा, पैराडाइज में 'उषा किरण' मुसकरा रही थी...

ठीक बारह बजे।

'उषा किरण' के छूटते ही, वीरेन की सुलभी उलझन फिर उलभी। थिएटर से बाहर निकलते-निकलते समस्या सामने थी—आखिर सोए कहाँ ?

विचार आया—चलो दादर ही चले चलें। रामस्वामी अच्छा आदमी लगता है, सोने को कहीं जगह दिला ही देगा; कह देंगे—'परदेशी हैं, बम्बई में नौकरी ढूँढने आए हैं।'

माहीम के स्टेशन पर पहुँचते, देर न लगी। देखा, स्टेशन के बाहर काफी लोग सोए थे। सोचा वीरेन ने, आज यहाँ रात बिता लूँ, कल जो भोर आएगा—कहीं और ले चलेगा। कहाँ, यह सोचते नींद आ रही है।

मन-मस्तिष्क थक जाते हैं, तो नींद गहरी आती है। वीरेन को भी गाढ़ी नींद का आश्रय मिल गया। पर, उस प्रगाढ़ निद्रा के आलिंगन में उसे घड़ी-भर न बीता होगा, कि स्वप्न भंग हो गया।

सरू की जगह, बम्बई की स्पेशल पुलिस सामने खड़ी थी। कुछ लोग इधर-उधर भाग रहे थे। फुटपाथों के बादशाह सत्ता-विहीन हो, गलियों में दौड़े जा रहे थे, और कई पुलिसवाले पीछे से डंडा मार-मारकर भगा रहे थे।

वीरेन से एक ने पूछा, कि कौन है, कहाँ रहता है, कहाँ से आया है ? यहाँ 'काहेकू' सोया था ?

वीरेन ने बताया, 'परदेशी हूँ। दिल्ली से बम्बई नौकरी की तलाश में आया हूँ।'

दूसरे हवलदार ने पूछा—“तुम पंजाबी है ? वही लगता है ।
अच्छा, कभी आया, कितना दिन हुआ ?”

“कल...आज ही ।”

“मुंबई न जाके, इधर माहीम काहे को आया ?”

“दादर पर उतर गया था ।”

दूसरा बोला—“जाने दो, भोंसले । इस को ज्यादा तंग मत करो । यह गुंडा नहीं लगता । देखता नहीं, पट्टे के मुंह का पानी कैसा उतर गया है !”

भोंसले बोला—“क्या तुम्हारा नाम, वीरान ? देखो, इधर अभी नहीं सोना । बम्बई का पुलिस-कायदा कड़ा है । दूसरा पाली का पुलिस फिर आएगा, ‘चौपन’ में उठा ले जायगा, तो बाँदा हो जाएगा...इधर कहीं रिश्तेदारी है ? नहीं ? तो ?”

फिर मुड़के बोला—“देखो, मेहरा साहब, हिंदुस्तान का जितना बेकार, लावारिश लोग है, मुंबई का ही खिचड़ी खाने को आता है...
ऐ, वीरान, तुम भाई, या तो बंबई सेण्ट्रल चले जाओ या बोरीबंदर ।
क्या, इधर सबर्बन में पोलिस ज्यादा पकड़ता है...”

और सी० आई० डी० लोग, कुछ सोनेवालों को साथ में लिए,
आने की दिशा की ओर मुड़ गए । एक चिल्लाया—“हवलदार,
हमारे को छोड़ दो । हम अभी-अभी सिकंदराबाद से आया । हमारा
नाम कुंद स्वामी, बाप का नाम कुत्तु स्वामी । हम चोर-मवाली नहीं,
साहिबा ! हमकू छोड़ दो, साहिबा !...”

भोंसले बोला—“शरीफ तो शकल-सूरत से ही लगता है, आब-
नूस का कुन्दा है । साला, दाखलेबाज होयगा, पक्का । चल ।”

इस सूरत का भी अपना अलग अस्तित्व होता है; इसकी आड़

में ऐब दब भी सकते हैं, इसके माध्यम से 'शंका का सूत्रपात' भी होता है ।

वीरेन ने, गेट पर खड़े टिकिट बाबू से, पूछा—“साहब, यहाँ से बोरीबन्दर के लिए ट्रेन जाएगी ?”

“हाँ, हाँ, जाएगी,” मास्टर बोला—“अभी, थोड़ी ही देर में ।”

टिकिट लेकर, वीरेन स्टेशन के अन्दर गया । तभी प्लेटफार्म नं० १ पर लोकल ट्रेन आई, बम्बई सेण्ट्रल से । वीरेन की आँखें नींद से अलसा रही थीं । ट्रेन देखी, आव देखा न ताव, अन्दर जाकर बैठ गया ।

लोकल ट्रेन, गार्ड की सीटी बजते ही, बाँदरा के कसाईखाने की ओर चल पड़ी ।

पाँच

भाड़ू वाले भंगी ने आकर वीरेन को जगाया । आँखें मलते हुए, वीरेन उठ बैठा । पूछा—“यही बोरीबन्दर स्टेशन है ?”

“बोरीबन्दर ?” विस्मय के साथ वीरेन को ताकता हुआ, भंगी बोला—“बोरीवली है, भाई, बोरीवली !”

“बोरीबन्दर कितने स्टेशन आगे है ?”

“बोरीबन्दर आगे नहीं, पीछे रह गया । यह गाड़ी आगे नहीं जाएगी । तुम नवा-नवा आया है ?”

“हाँ !”

“अरे, भाई !” भंगी बोला—“अब पड़े रहो यहाँ, यह लास्ट ट्रेन थी । सबेरे चार-पौने चार बजे यहाँ से ट्रेन जाएगी चर्चगेट के लिए । दादर पर उतर के बोरीबन्दर की ट्रेन पकड़ना ।” और वह ‘चलो, बाहर चलो’ कहते हुए, ट्रेन की खिड़कियाँ और दरवाजे

बंद करने लगा ।

वीरेन को थकान-सी अनुभव हो रही थी । जैसे बियाबान-बीहड़ जंगल में कोई रास्ता न पा, थका राही सिर पर हाथ दिए बैठ जाता है, चिन्तन की राह न पा, वीरेन सामने पड़ी बेंच पर लेट गया ।

इतने में हवलदार आया, पूछा—“कहाँ जाने का है ?”

“बोरीबन्दर ।”

“तो उधर जाके लेटो, प्लेटफार्म नं० २-३ पर । वहीं से गाड़ी जाएगी, इधर से नहीं ।”

वीरेन उठा, पुल की सीढ़ियाँ चढ़ता, प्लेटफार्म नं० २-३ पर चला गया । वहाँ भी कई बेंचें पड़ी थीं, कई बेंचों पर लोग सोए थे । एक बेंच खाली थी, एक ओर । दूसरी ओर एक मजबूत कंधों वाला बीड़ी पी रहा था ।

वीरेन ने ऊपर देखा—प्लेटफार्म नं० २ की तस्ती लटकी थी, सामने देखा—बोरीवली लिखा हुआ था । ‘मुझे बोरीबन्दर जाना है,’ वीरेन ने सोचा ।

अचानक शोर-गुल सुन, वीरेन की आँख खुली । ऊपर उठी, तो देखा केवल दो बजे थे । कई भैया लोग दूध के हंडे सिर पर लिए चले आ रहे थे । कोई ‘फलानी, कहाँ रखी ?’, कोई ‘राजू, हम तो तबेले में कहत रहे, दुई बजे पहुँचेंगे । देखउ, दुई के ऊपर ही काँटा चढ़ी,’ कह रहा था ।

वीरेन को लगा, उसको दूसरी ओर वाले ने भाँका । वीरेन आँख मूंदे पड़ा रहा, पर अब आँखों में नींद न थी । मधुर सपनों की बैरन चिंता पलकों पर डेरा डाले बैठी थी । कुछ समय बाद वीरेन ने सामने दृष्टि डाली तो देखा—लगभग सभी सो गए थे ।

एक भैया जी जागे हुए थे, वीरेन उमकी हरकत देखता रहा। भैया जी ने दो-तीन नोट कमर से निकाले, फिर उन्हें एक चिकने-धमकीले कागज पर मोमबत्ती के आकार में लपेटा, और फिर मुंह में रख लिया। इसलिए, कि गिरहकटों की चिंता से मुक्त होकर, निश्चित हो सकें।

भैया जी की बुद्धिमत्ता की दाद देते हुए, वीरेन ने आखिं मूँद लीं। तभी ऊपर से छाया सरकती-सी लगी। पलकें ऊपर उठीं तो देखा—पड़ौसी उन भैया जी के पार्श्व में जाकर बैठ गया था। उसकी सघन काली मूँछें अच्छी न लगें वीरेन को।

उसकी ताक-भाँक, उसके चलने का ढँग, कि जैसे चूहे की शोध में बिल्ली चल रही हो; वीरेन सोचता रहा, आखिर भैया जी के पास यों क्यों चला गया? कहीं उन नोटों के लिए तो नहीं?

यह विचार आते ही, एक फुरहरी-सी वीरेन के बदन में उठी, और वीरेन कौतूहल से सचेत हो गया। आखिर वह कैसे निकाल भी कैसे सकेगा?

वीरेन सोच ही रहा था, कि पड़ौसी ने, इधर-उधर देखकर, भैया जी के ही दूध के हंडे में से घास का एक तिनका निकाला। तिनका पड़ौसी की मूँछ के बालों से थोड़ा ही लंबा-मोटा था, अधिक नहीं। काम जादू की छड़ी का किया। पड़ौसी ने तिनका भैया जी की बोलती नाक की ओर बढ़ाया। पहले तिनका भैया जी की जौनपुरी मूँछों से उलझा, भैया जी सुसुप्तावस्था में ही फुसफुसाए, 'अगले जेठ में तो थकनिया की माँ को ले के ही अइ हें', तिनका दूसरी बार मोर्चे की ओर बढ़ा, और भैया जी 'आक्छीं, आक्छीं' करके फिर थकनिया की माँ की याद में खर्राटों के पुष्प समर्पित

करने लगे, और इधर 'आक्छी' के साथ-साथ, थकनिया की मां के लिए घेरदार घाघरे को मर-मरकर जुटाए हुए, भैया जी के खून-पसीने के रुपए दूध के हंडे की बगल में जा गिरे, जैसे कह रहे हों, 'हम पानी के थे, सो तुमसे दूर जा रहे हैं।'

वीरेन को अपने पड़ौसी के चौर्य-कौशल पर इतना विस्मय हुआ, कि मुंह से हल्की चीख निकलते-निकलते रह गई। मन भनभना उठा तम्बूरे-सा, पर स्वर फूटने से पहले ही, बगल में कुछ चुभता-सा महसूस हुआ। चाकू की नोक पसलो पर टिकाए, पड़ौसी कह रहा था—“सी ! सी ! चोप ! साला मुखबिरो करेगा ? चीर डालूंगा, फाड़ डालूंगा ! गप चुप चल मेरे साथ। खुदा कसम, जरा भी पसरेगा, तो ईद का बकरा बना डालूंगा। मेरा नाम सुना है ? नहीं सुना होगा।”

‘नहीं सुना होगा, तभी तो सौदा उठाते ही चिल्लाने की कोशिश में था !’ मन-ही-मन कहते हुए, पड़ौसी ने वीरेन को गपचुप अपने साथ चलने का इशारा किया। ट्रेन की पटरियों के किनारे-किनारे, काफी दूर निकल आने पर, पड़ौसी बोला—“तुम कौन है ? सी ! बोम नहीं मारना, खुदा कसम, चीर डालूंगा, फाड़ डालूंगा ! काहे को स्टेशन पर सोया था ? तुम भी पड़ौबाज तो नहीं है ? सी ! बोम नहीं—मेरा नाम सुना है ?”

वीरेन इस अप्रत्याशित स्थिति से एकदम संज्ञा-शून्य-सा हो गया था; घबरा गया था, जैसे अचानक खूंखार बाघ को सामने पा पथ-बिसरा राही। जैसे बिना 'म्याऊँ' किए आ दबोचनेवाली बिल्ली के पंजे में जवान चूहा, जिसने गेहूँ के बोरे में जी-भर सेंध भी न लगाई हो...

इस घबराहट में उसका सारा विवेक ऐसे खो गया था, जैसे मुंबादेवी के मंदिर के दालान में अक्सर, भक्तों की भीड़ के समय, बाटा और फ्लैक्स के झूते-चप्पल खो जाते हैं। केवल 'नहीं' की मुद्रा में सिर हिलाकर, पड़ौसी की खूंखार आकृति को ताकता रह गया वीरेन। रात ने जैसे सारी स्याही उसके मुंह पर मल दी हो, दिन का सारा ताप जैसे उसी की आँखों में भट्टी जलाए बैठा हो।

पर, तभी निमिष-भर में रात की स्याही पुंछ गई, खूंखार पड़ौसी ने वीरेन के चेहरे के उतार-चढ़ाव को परखा, फिर उसकी घबराहट को दूर करने के लिए ही जैसे उसकी आँखों में दूध-अघाई पूसी की-सी चमक आ गई। बोला—“अरे यार, तुम क्या मुखबिरी करोगे ? एकदम भोले पंछी लगते हो। खुदा कसम, छोकरीयों की-सी मासूमियत पाई है ! ऐसी गाय को तो कसाई भी न काटे; वरना कसम अल्ला की, इसी दाव^१ से...” मुंह से 'सी' की लम्बी आवाज कर, दाहिने हाथ की तर्जनी को गले के इस छोर से उस छोर तक ले जाते हुए, पड़ौसी ने अपना रामपुरिया चाकू बंद कर जेब में रख लिया।

“चलो, तुमको नूर के हाथ की चाय पिलाऊँगा। थके लगते हो। कसम खुदा की, ऐसा शक्कर डालती है कि करेला मीठा हो जाए। तुम परदेशी लगते हो ? परदेशी हो न ?”

वीरेन ने 'हाँ' की मुद्रा में सिर हिलाया, और पड़ौसी के हाथ से ऊपर उठे हुए राम-राज्य के लोहे के कंटीले तार के नीचे से, पटरी के उस पार निकल गया।

छः

जैसे डाल से गिरा पात पवन-हिलोरे-सहारे धरती की ओर गिरता है, वीरेन सघन-काली मूँछोंवाले पड़ीसी के सहारे अनजान डगर बढ़ा जा रहा था। पत्ते के लिए धरती सहारा है, यों कल उसे न-जाने कौन रौंद दे, पर वीरेन के पैर, धरती छुए भी, जैसे आशंका के आकाश और भय की धरती के बीच त्रिशंकु बने हैं; उठाए नहीं उठते, चलाए नहीं चलते।

“जिस्म से तो अच्छा-खासा पंजाबी पट्टा लगता है, पर चलता है शेर बाजार के बनियों की तरह, उनकी भारी पड़ी, मन से हिरनी, तन से हंसिनी बीबियों की तरह। तुझसे तेज तो मुँगरापाड़ा के हिजड़े चलते हैं। खुदा कसम, तुझसे मर्दाना चाल तो अपनी नूर चलती है! चाय में शक्कर ऐसा मिलाती है—चल, जल्दी जरा। एक कप पिएगा, मिया जी के मुर्गे की-सी नसें तन जाएँगी।

लगेगा, फिर पंजाब की तंदूरी रोटियाँ खाकर, घर से निकला है।
ऐ, मेरे यार, तू कुछ बोलता क्यों नहीं ?” और पड़ोसी की
सघन मूँछें प्रश्न-चिन्ह बनकर बीरेन से जवाब माँगने लगीं। अनबनी
बात-सी उदास यह रात भी क्यों खामोश है ? बीरेन ने जैसे अपने
से प्रश्न किया।

“ऐ, मेरा नाम सुना है ? खुदा कसम...अरे, चल, कांदिवली
आ गया है। तुझे साथ क्यों ले जाना चाहता हूँ, कुछ ठीक नहीं।
हाँ, नूर के हाथ की चाय जरूर पिलाऊँगा। शक्कर ऐसा डालती
है...खुदा कसम, मैं जितना बिजली की लाईट में चमकता हूँ, वह
उतना अंधेरे में। खुदा कसम, तू एकदम बहरा है क्या !...जरा बाणू
हो...हाँ, दो टिकिट अंधेरी के देना, बाबू !...चल, प्लेटफार्म पर
चलेंगे।”

“चलो, भाई !” बीरेन कसाई की गाय-सा बोला।

“ऐसा मुर्दे-सा क्या बोलता है ?” कंधे-पर थाप देकर, पड़ोसी
हँस पड़ा—“रामपुरिया’ जेब में डाल लिया है, डर मत। लेकिन,
हाथ से बाहर जाकर, फँसाने को देखेगा, तो खुदा कसम, चीर
डालूँगा, फाड़ डालूँगा...पर, तुम तो परदेशी हो ? मैं गाय के गले
में छुरी नहीं फेरता। डर मत। तू परदेशी है, मेरा भाई है...”

‘मेरा भाई है’ पर आकर पड़ोसी रुक गया। तभी घरर-घरर
करती लोकल ट्रेन भी कांदीवली की गोद में थम गई। दूधवाले भैया
लोगों की ठेलम-ठेल मची थी। जोर दोनों ओर वाले लगा रहे थे—
आनेवाले भी, जानेवाले भी। जैसे-तैसे बीरेन भी, पड़ोसी के भारी-
भरकम शरीर के साए में, अन्दर पहुँच गया।

अन्दर बीरेन के पूर्व-परिचित भैया जी साथे पर हाथ दिए,

जैसे फूट गया हो, कह रहे थे—“का कही, साहब ! अचरज का बात हुई गया । हम साला सोचा रहा, कमर से कोई निमकहराम, चोट्टा साला बलेड मारकर खिसका लेई, पर ससुरा हमारे मुँह को उल्लू बना के चल दिया ! साला अधरम है, साहब । प्लेटफार्म पर, साला इतना-इतना लोग सूत्रा रहा, सब साला जोरू का खसम, कोई बोला नहीं कि भैया जी तोहार लुटिया लुटि जात है !...”

सारे डिब्बे पर एक लानत-मलामत की नजर फेंककर, हाथों को भगवान के दरबार की ओर उठा, यथा-स्थान माथे पर रख भैया जी चुप हो गए—“साला अधरम है !”

“क्या हुआ, कुछ रुपया-बुपया गया, भैया जी ?” किसी ने पूछा ।

“अब, क्या बताएँ, भाई साहब !” भैया जी, जैसे पूछने के लिए बड़ा अहसान मानते हुए, बोले—“दश-दश का दुई, पाँच-पाँच का दुई अऊर एक-एक-का पाँच—पूरा साला पैतीस रुपया रहा । जेठ में मुलक जाने का विचार किया रहा । पर के साल थकनिया को लिबरटी में ‘फुटपाथ’ दिखाए रहे, तीन अब के बरस थकनिया की महतारी को ‘भनक-भनक पायल’ दिखाने के सोचत रहे । हम साला विचार किया रहा—थकनिया की महतारी के लिए रेशम का घेरदार घाघरा लै के जाब...फिर जो साहब, ‘वन फैब’ की कुर्सी पर उसको बिठाने का विचार रहा । साहब, लिबरटी का कुर्सी भी क्या आगे-पीछे सरकता है !...हम साला सोचे, जब थकनिया की महतारी घेरदार घाघरा पहन कै या कुर्सी पर बैठी...” घेरदार घाघरे के अनुमान-निरूपण में अपनी बाँहें ऊपर उठा, फिर यथा-स्थान माथे पर रख, भैया जी बोले—“पर, साला आज हम सूत्रा रहा, साहब; कोई हमारी जिन्दगी को चूना लगा दिया ! का करी ! पिछले बरस लिए

रहे, थकनिया की महतारी के लिए साड़ी...साहब, 'बूलन' साड़ी लिए रहे...पर, साला कोई जोरू का खसम, हंडे से निकालि के ले गया !... साला, घोर अधरम है !...'

पड़ौसी ने, सघन-काली मूँछों को झटका देकर, वीरेन की आँखों में झाँका, वीरेन ने लाचारी का कुंदा अपने मुँह पर मारा; बगल की सीट में से गुजरातन दूधवाली ने अपना काठियावाड़ी घाघरा घुटनों तक ऊँचा कर लिया...

अँधेरी के स्टेशन पर दोनों उतर पड़े; वीरेन तो ऐसे उतरा जैसे खाली छाया उतरी हो। हसन ईरानी बोला—“क्या, दादा, आज सुन्न-सुन्न कहाँ से आना हुआ ? चाय पिईगा ?”

“तू क्या चाय पिलाईगा, इराणी ! पाउडर की...थू !” थूकने के बाद, दादा फिर बोला—“कभी जालिम के हाथों की चा पिया होता ! ऐसा शक्कर डालती है...चल, यार, किस कबाड़ी का मुँह सबेरे देख लिया। उसकी कानी आँख देखी ?”

वीरेन ने सिर हिलाकर 'नहीं' जताई। सोचता रहा, वह ईरानी तो इससे भी बाल-सफेद है, फिर भी इसे कदा कहता है ?

पुल पारकर, दोनों सड़क पर आए। मोड़ पर मथुरा का रिटायर्ड पंडा हुक्का गुड़गुड़ाकर, अपने दैनिक-जीवन का बालपन खो रहा था—गुड़-गुड़...गुड़ के पंडा जी, बचपन में, बड़े शौकीन रहे। अब गुड़ की मिठास हुक्के की लंबी गुड़-गुड़-गुड़ से ले लेते हैं। पड़ौसी को देखते ही, बुढ़े की भुर्रियाँ तेंतीस-चौतीस हुई, “तम्बाकू पिई ?”

“नहीं, काका, घर जाई।” बड़े शायराना अन्दाज में पंडा जी का शुक्रिया अदा कर, पड़ौसी आगे बढ़ा। वीरेन के कंधे पर हाथ देकर

बोला—“साला, ‘तम्बाकू पिई?’ पूछेगा बड़ी दरियादिली से। पर, जाऊँ तो खाली हुक्का हाथ में पकड़ा देता है—पंडा जो ठहरा, पूरी चिलम कैसे देगा? धत्तेरे पंडे की !……पर, बुड्ढा मुझे प्यार बहुत कहता है, यार !” लड्डू हाथ में आए बच्चे का-सा मुँह बनाकर, दादा खिलखिलाकर हँस पड़ा—ही, ही, ही !

मुंगरापाड़ा के ढेर सारे कुत्ते, कुत्तियों पर नजर फेंकते, एक साथ भूँक उठे—हू, हू ! हू, हू !

भगवान् भास्कर का हाथ-मुँह न धुला था। उषारानी माँग में सिंदूर रचाए, उजले मोती-भरे आँचल को रसिया पवन की चपल अँगुलियों से बचा रही थी। ये सारा सिंदूर, यह सारे मोती; अनछुआ कौमार्य, अधखुले नयन—तू बैरी इन्हें बिखेर देगा, मसल देगा; धूल-भोंककर नयन पथरा देगा……

ऊँचे पाथर पर बैठे, बदरू के मुर्गे ने टाँग ऊपर उठाई—कुंकड़ू-कूँ ! यह उसकी तीसरी अर्जान थी।

सात

तीन कुत्ते जिस चौराहे पर पड़े रहते हैं—

अँधेरी स्टेशन से, बाँई ओर, उतरकर—सीधे चले आने पर—नाके पर, जहाँ मेनरोड कुर्लारोड मिलती है, नत्थू ठेलेवाला मिलता है, मिलता रहेगा । मिलता रहेगा, इसका विश्वास है । इतने बड़े-बड़े अँग्रेज चले गए; सूरज न छिपे जिनके राज में, उनकी हुकूमत चली गई; गाँधी-पटेल चले गए—पर, नत्थू ठेलेवाला है, बुलाए नहीं जाता । ऋतु-अनुरूप फल हमेशा उसके ठेले पर सजे रहते हैं ।

नत्थू ठेलेवाले का जिक्र इसलिए करना पड़ा, कि वह दादा के ज्ञान-पहचानवालों में से है, और दादा के ज्ञान-पहचानवाले जितने हैं, आने-पाने मुंगराषाड़ा में ही धूप सेंकते हैं, बरसात भीगते हैं, इसलिए इनका जिक्र जरूरी हो जाता है । जिक्र की बात भली कही—नत्थू ठेलेवाले को 'जै रामजी की' कहकर, सीधे उषा टाकीज

की ओर चलने पर, गिनती के कुछ कदमों पर अलीबख्श, कलीहुसैन फर्नीचर वाला है ।

अंधेरी के तीन कौड़ी के होटलों से लेकर 'प्रकाश' स्टुडियो तक फर्नीचर अलीबख्श, कलीहुसैन के यहाँ से जाता है । बदरू मुर्गी वाले के चिलम की नली से लेकर, डाइरेक्टर घोष बाबू की नई बीबी चंदानी की पलंग तक अलीबख्श, कलीहुसैन के यहाँ से जाती है । चंदानी की बात भी अच्छी याद आई !

मुश्किल से चार गर्मी-सर्दी के हेर-फेर की बात होगी । अली-बख्श उन दिनों दारू सप्लाई करता था । दारू सप्लाई करते-करते फिल्मों के लिए 'एक्स्ट्रा' छोकरे, और फिर छोकरियाँ सप्लाई करने लगा । छोकरियों की 'सप्लाई' के दिनों को अलीबख्श अब भी फख्र से अपनी बादशाही के दिन कहता है । अठन्नी-चवन्नी में कितनों का ही रंग मैला किया होगा । यों सोचने जाएँ, तो कितनों को जर् से आफताब भी बनाया होगा । बहुत-सी हीरोइनें आज भी अली-बख्श के फर्नीचर-मार्ट के आगे जोर से हार्न बजाते भिभकती हैं; रेलवे-फाटक से '१० एम० पी० एच०' की रफ्तार से निकलने के बाद, अलीबख्श की दुकान तक बीस कदम आते-न-आते काँटा ४० पर ले जाती हैं ।

हाँ, तो चंदानी की बात हो रही थी ।

लखनऊ की इस चंदा को, सोलहवीं कला पूर्ण होते-न-होते, लीला चिटनीस-खुशीद बनाने का सब्ज बाग दिखाकर, कलीहुसैन बम्बई ले आया था । यों लखनऊ में चंदा की खूब कद्र थी । उसकी 'बाली उमर लरकइयाँ, ना छेड़ो सैयाँ' पर लखनऊ के रइसों के घर बनते-बिगड़ते थे ।

पर, कल्पना और महत्वाकांक्षा के पर सुर्खाब के होते हैं। तो चंदा कलिया तबलची के साथ बम्बई आई। दरअसल चंदा कलिया को प्यार करती थी। पर, निकाह की बात तो कलिया सदैव टालता रहा, कि 'जब तुम हिरोइन बन जाओगी, मैं डारेक्टर-प्रोड्यूसर बन जाऊँगा.....' अभी तो तुम्हारी कच्ची उमर है.....' और इस 'कच्ची उमर' के साथ कलिया चंदा की अनार-फाँक-सी चिबुक ऊपर उठाकर, कुछ ऐसी बात कहता—बस, चंदा चाँदनी-सी बिखर-सँवर जाती और कलिया की गोरखपुरी छाती से चिपक जाती, जैसे किरन-बाँहोंवाला चंदा किसी गहरे सरोवर के नीले-गहरे वक्ष में छिप जाता है...

बम्बई में आकर, कलिया चंदा के साथ गोलपीठे के नासरी होटल में तंदूरी रोटियाँ सेंकनेवाले गबरू चाचा के यहाँ ठहरा।

गबरू चाचा जैसे तंदूरी रोटियाँ उलटता-पलटता है, वैसे ही जवानी में रेशमा चौधरिन की खातिर, बनारस का जाना-माना तख्ता 'गबरूद्दीन, नसरुद्दीन जरीवाला' पलटकर, बम्बई भाग आया था। रेशमा चौधरिन दगा देकर, कुर्ले में दूध-दही के धनी शर्मा दूधवाले का घर बसा गई। गली-कूचों में गुजरते, गबरू चाचा नासरी होटल में बस गया।

कलिया दो-चार बरस पहले गोरखपुर से बम्बई आया था, तो इसी नासरी होटल में तंदूरी रोटियाँ खाई थीं। यहीं गबरू चाचा ने कलिया को फूलों की सुवास सुँघाई। कमाठीपुरा, पवनपुल घुमाया। सो लखनऊ जब कली गया पिछले बरस, तो करीम चाचा की तम्बाकू की दुकान छोड़कर, नरसीबाई के छज्जे पर चला गया। चंदा उसी के यहाँ थी।

हाँ, तो जब कलिया चंदा को लेकर बम्बई आया। बम्बई आकर, बेंतवाली चाल में गबरू चाचा के यहाँ ठहरा, तो गबरू चाचा की सफेद दाढ़ी-मूँछ और सिर के बालों को खिजाब लगाने लगा। चंदा की चाँदनी में जैसे कौमुदी की श्री-शोभा निखरती है, चंदा को नजर-भर देखते ही, गबरू चाचा के गए दिन लौटने लगे।

कली दिन-भर स्टुडियों की खाक छानता; गबरू दिन-भर चंदा को मलाई और गुलाबजामुन के दोने चटाता। वसंत की बहार बूढ़े-बच्चे की तमीज नहीं कर पाई। कलिया ने देखा—गबरू चाचा की मूँछों के बाल कुछ काले हो आए हैं ! सो खुदा का वास्ता देकर, दूसरे ही दिन, जुमा मसजिद के साए में चंदा को अपनी बीबी कबूल किया...

यों आज भी हिरोइन चंदानी नासरी होटल से गुंजरती कार से बाहर नहीं भाँकती, नहीं तो ये इतनी बड़ी-बड़ी तंदूरी-रोटियाँ...तब वे गुलाबजामुन और मलाई के दोने...

गबरू चाचा की दाढ़ी-मूँछ में अब नमूने को भी काला बाल नहीं है।

कलिया बीबी बनाकर, चंदा को बीबी की तरह रख न सका। उसे पहली सुहागरात फुटपाथ पर मनानी थी। दो आने के गजरे लाकर, जुमा मसजिद के साए में ही अपनी बड़ी बरसाती बिछा, कली ने सुहाग-शैया रची। इधर चंदा थी, उधर चंदा उस रात न था। रात की उमर बीती जा रही थी, चमेली के गजरे महकने लगे थे, बङ्गल के चबूतरे पर कबाड़ी की कुआँरी मुर्गी अपना पहला अंडा रखकर चली गई थी।

पर फूल महक न पाए। कलिया के अरमानों की कली जी-भर

पराग न बटोर सकी । ढोंडू हौलदार, पांडू नायक ने टार्च की रोशनी डालकर, कलिया के अभिसार-दीप्त मुख पर जैसे स्याही पोत दी ।

“साला फुटपाली पर माँ को ले आया !”

“साला कहीं से भगा के-उड़ा के लाया है !”

उड़ाई हुई पंछी के चेहरे का दूधिया-रंग ढोंडू ने देखा, पांडू ने देखा—देखते रह गए । महाराष्ट्र के जंगलों में लखनऊ की मल्लिका ज्यों चंदा—ढोंडू की आँखों में, पांडू के दिल में—और चमेली के फूलों ने शरमाकर आत्म-हत्या कर ली ।

कबाड़ी के मुर्गे की पहली अजान के साथ, ढोंडू ने मूँछों पर ताव देते, बेशर्मी की हँसी हँसकर कहा—“क्या, कल भी ले आना इधर ही । अब तेरे को कोई रोकेगा-टोकेगा नहीं । समझा क्या ?”

और कलिया जिन्दगी में पहली बार रो पड़ा ।

चंदा विसुध-विवसना पड़ी थी ।

उसके बदले में सिर्फ रात की बरौनियों से आँसू लुढ़क पड़े ।

कबाड़ी की कुआँरी मुर्गी का पहला अंडा चबूतरे पर ही फूट गया था—

°

°

°

बात आई-गई हो गई ।

फारस रोड के ‘सखाराम दत्तात्रेय केशव भिकाजी हिंदू होटल’, में बासी ऊसल-पाव खाते, शारदाबाई की नजरों में कलीहुसैन आ गया । शारदाबाई को मुहल्ले-भर की जवान-बूढ़ी सभी जन-कल्याणियाँ ‘शारदा काकी’ कहा करती हैं । तेरह की कच्ची उमर से लेकर, पचास-पचपन की गिरती में भी कैसे ‘धंधा’ सँभाला जा सकता है, इसकी राम-बाण औषधि, अचूक पद्धति शारदा काकी के पास है—

कलीहुसैन के उतरे चेहरे का अच्छर-अच्छर शारदा काकी ने पढ़ लिया, यों खुद जब अपने पुराने खसम रामखेलावन को बिजनौर पैसा भेजती, तो अँगूठा लगाकर । रामखेलावन का पोस्टकार्ड हर महीने मनीआर्डर पहुँचते ही आ जाता । लिखा होता—‘अँगूठा अब भी तेरा खुर्जा की ककड़ी-सा नरम-मुलायम लगता है, शरू ! मेरे नीचे-ऊपर के मिलाकर अट्टाईस दाँत गिर चुके—सत्ताईस-अट्टाईस वरस ही तुझे रुठे भी हुए होंगे ?—पर, जब भी तेरा मनीआर्डर आता है, मैं तेरे खुर्जा की ककड़ी-से नरम-मुलायम अँगूठे के निशान को बस देखता ही रह जाता हूँ । पोस्टमेन साला हरामी है, वह क्या जाने किसी के दिल का दरद, इशक की गहराई ! तभी तो साला भंगिन की भाड़ू खा गया, कच्ची उमर में ही ! चिट्ठी-पत्रों के बदले हाथ थमाता था...साला मुझसे सही करने को कहता है, पर मैं तो अँगूठा ही देता हूँ, यों बचपन में हाथरस जाकर, मामा के घर—क-ख-ज़ पढ़ आया था ।’ ऐसी ही बातों के बाद एक शाश्वत, अपरिवर्तन-शील वाक्य होता—‘जवानी मैंने तेरे धोरे लुटा दी, बुढ़ापा भी तेरे ही कंधों पर है । मझधार में न छोड़ देना, बस, दो-चार महीने का मेहमान हूँ ।’ और पिछले दस वर्षों से हर महीने ऐसा ही पत्र आता था ।

हाँ, तो किताब के अक्षर शारदा काकी के लिए जोगेश्वरी के तबेलों की भँसें भले ही हों, जिदगी के उतार-चढ़ाव का अच्छर-अच्छर शारदा काकी बारीकी से पढ़ लेती । पढ़ते-पढ़ते ‘कॉमा, फुलस्टॉप’ भी लगाती जाती, जहाँ ‘फुलस्टॉप’ लगाती, वहीं तीर निशाने पर पड़ता ।

बगल की कुर्सी पर जाकर बैठते ही, काकी ने कलीहुसैन के

कान में मंत्र फूँका—“नथ उतरी तो नहीं है ?”

“कौन ? ...” कलीहुसैन जैसे सातवें आसमान से गिर पड़ा । काकी कंधा दबाकर, चिकुटी काटकर बोली—“उड़ मत ! इसी फारस रोड पर मुझे पच्चीस बरस हो गए !”

‘पच्चीस बरस हो गए !’ काकी ऐसे बोली, जैसे अपनी फिल्म की सिल्वर जुबली पर फिल्मस्तानवाले धरती पर पैर नहीं रखते । वैसे देखा जाय तो ‘जन-रंजन’ की दृष्टि से काकी के ‘जन-कल्याणी’ जीवन की सिल्वर जुबली तो यह थी ही !

कलीहुसैन सहसा कुछ कह न सका । मन तो हुआ इस दूतन को दुतकार दे, पर खिसियाकर रह गया । काकी ने पहले दो ‘मस्काब्रून’ लाने का आर्डर दिया, फिर बोली—“भैया, ये सड़े ऊसल-पाव खाकर टमाटर-से गोरे गाल क्यों बासी करता है ?” यों इशारा चंदा की ओर था, जो दूसरी कुर्सी पर, दूसरी ओर ताकती बासी पाव का टुकड़ा गले में अटकाए सुबक रही थी । ‘मस्काब्रून’ आते ही, काकी अपने हाथ से प्लेट चंदा के आगे ले गई, मन-ही-मन बोली—‘किसी नवाब की मनचली, कमसिन बेगम तो नहीं उड़ा लाया बावला ?’

कलीहुसैन अजीब पशोपेश में था । गरीबी जिस्म को मुर्दा कर देती है, रगों में खून खौलता नहीं, सिसकियाँ भरता है ।

कुछ क्षण बाद ही, कलीहुसैन चंदा को सहारा देते हुए, शारदा काकी की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था । मुहल्ले-भर की गिद्ध-दृष्टियाँ इस मजबूरी—बेजबान खूबसूरती—बेमिसाल चालबाजी की त्रिवेणी के आर-पार जा रही थीं । सड़क पर सोका ईरानी के ठेले की कमानी पर दारू के डिब्बे छुपाए अलीबक्श गुजर रहा था—‘शारदा काकी,

सलाम !'...

शारदा काकी को दी हुई सलामी का जवाब अलीबख्श को रात के पौने नौ बजे मिला, जब वह गिरगाम-गामदेवी अपना माल खपाकर, शारदा काकी की खिदमत में आया ।

उस रात कलिया बरामदे में सोया रहा ।

उससे दो फुट की ही दूरी पर शारदा काकी भी लेटी थी । अंदर एक ही कमरे के पार्टिशन करके तीन किए थे काकी ने । तीन पलंगें वहाँ बिछी थीं । शारदा काकी की तीनों 'बेटियाँ' आज भी सुहागिनी थीं । चंदा-अलीबख्श की पलंग आखिरी थी, पर कलीहुसैन को लग रहा था, उसकी छाती पर यह पलंग बिछी है !

सारी रात कलीहुसैन बादल-भरे आकाश में तारे खोजता रहा, चंदा कराहती रही, अलीबख्श हँसता रहा । शारदा काकी ने कमरे में खोंसे नोटों को दुलराया । कलीहुसैन ने सोचा—इस लानत की जिंदगी से तो मर जाना बेहतर ! उसने चादर फेंक दी, बरामदे के बाड़े के उस ओर नजर डाली—तभी उषा-बधूटी ने अपनी लाज का पहला फूल सूँघा, सिंदूर-रेखा पर बिजली कौंध गई, शबनम के मोती बिखर गए; लेकिन यह बरामदा इन बेशकीमती मोतियों से तीन मंजिल ऊँचा था—कलीहुसैन फिर चादर ओढ़कर सो गया ।

°

°

°

पर, अलीबख्श कलीहुसैन के लिए 'जाता शनि' सिद्ध हुआ । वह कुछ ही दिनों बाद चंदा और कलिया दोनों को अपने मुंगरापाड़ा वाले भोंपड़े में ले आया । चंदा दोनों के लिए बरामदे की लालटेन बनी रही । वह चंदा थी, धरती-आकाश दोनों रोशन करती रही ।

वह बेबस थी, आँसू पीकर खून बरसाती रही। वह नारी थी, दुःख भेलती, सितम सहती रही...

कलिया को पानी चढ़ाकर, अली ने 'एक्स्ट्रा सप्लायरों' की बगल से ले जाते-ले जाते, प्रोड्यूसर-डाइरेक्टर घोष बाबू को चंदा 'सप्लाई' कर दी...

चंदा हिरोइन चंदानी बन गई।

एक ही दिन 'घोष सिने कॉर्पोरेशन' की जगह मगन स्टूडियो के फाटक पर 'चंदानी प्रोडक्सन्स' की तख्ती लगी, और...

तीन कुत्ते जहाँ चौराहे पर पड़े रहते हैं—

करीब पंद्रह-बीस कदम की दूरी पर 'अलीबख्श कलीहुसैन फर्नीचर मार्ट' की तख्ती रोशन हुई।

मुंगरापाड़ा की गंदी बस्ती के भोंपड़ों में पहली बार रेडियो तरंगित हुआ। अलीबख्श पहली बार जी-भर हँसा। कलीहुसैन पहली बार चाँदी का चमत्कार भर-नजर देख सका; और दादा पहली बार 'चीर डालूंगा, फाड़ डालूंगा' भूलकर अलीबख्श को बधाई दे आया—“वाह लौंडे ! खूब गहरा हाथ मारा, प्यारे ! मौज करो, प्यारे ! कल तक तुम मेरी दारू सप्लाई करते थे, अब बड़ा माल...”

इससे आगे की बातें अलीबख्श ने दादा के मुँह पर बढ़िया अंग्रेजी अँगूरी शराब की बोतल सटाकर रोक दी थीं...

आगे जाने पर 'उषा टाकीज' आता है। उसके आस-पास की बिल्डिंगें अंधेरी में ऐसी ही हैं, जैसे आम के बगीचों में आम के वृक्ष, याने उनकी खासियत कुछ नहीं। यों दादा कहता है, इन बिल्डिंगों की 'हिस्टरी' हमसे पूछो; और दादा इन बिल्डिंगों की 'हिस्टरी'

उन 'रामा' लोगों से पूछता है, जो रात के बरतन धिसने के बाद दारू-देवी की वंदना को दादा के भोंपड़े पर आ जाते हैं ।

इससे आगे 'गोवा वाशिंग फैक्टरी' है । फरनान्डिस डीसोजा, इसका प्रोप्राइटर, हजारों कपड़े धो चुका होगा, पर मन का चदरा नहीं धो पाया । जैसे सारे कपड़ों का मेल उसके मन की चादर में जम गया है, जिसे धोने के लिए, उसी के शब्दों में, उसे 'गाँड' की वाशिंग-कम्पनी में जाना पड़ेगा ।

बस यही मुंगरापाड़ा की सीमा-रेखा है । आगे मुंगरापाड़ा है । बीस-पच्चीस भोंपड़ों की बस्ती । फिर भी मौज-रंगीनी की दुनिया की एक बेमिसाल हस्ती, हूरों और जमालों का देश—जहाँ केले के पत्ते में 'आमलेट' परसा जाता है, जहाँ दिन-भर भीख माँगनेवाले हरिभज और अल्लारक्खा अपनी बूढ़ी आँखों से उषा टाकीज के पर्दे पर सुरैया-नरगिस-निम्मी की जवानी को सिजदा करते हुए—मभरात दादा के भोंपड़े पर 'अद्धे-पौन' की मनुहार करते हैं, और फिर फुट-पाथ पर ही बुढ़ापा बिताने में मशगूल चिनम्माबाई, सोनप्पाबाई और गंगूबाई की गुदड़ियों पर चले जाते हैं !...

यहीं दादा का दाँया हाथ विट्ठल रहता है, जो गांधी टोपी पहन, खदर की सुफैदी में आत्मा के सारे कलुष को छुपाए, अकेले सौ से ऊपर की दारू सप्लाई कर आता है ।

यहीं तन-मन दोनों से काला अन्ना स्वामी रहता है, दादा के भोंपड़े के बगल में ही । बहन नागम्मा को जब से 'पिल हाउस' पर बिठा आया है, दोनों वक्त बिरयानी दबाता है । यों दारू को पैसे

कम पड़ते हैं, पर पिचन्ना के तेरहवीं पार करते ही यह समस्या भी हल हो जाएगी। बरसों पहले अन्ना स्वामी की माँ भी यहीं थी, पर वह अपना बुढ़ापा लोगों के गुप्त रोगों की दवा-पानी कर, पुण्य कमाते बिताती थी। पिछले बरस मद्रास पेसेन्जर से गई, तो फिर सीधे ऊपर की पेसेन्जर का टिकिट कटा लिया। पर, सारे मुंगरापाड़ा का केन्द्र दादा का भोंपड़ा है—‘मृगनाभि में कस्तूरी’ की तरह। यह भोंपड़ा सारे मुंगरापाड़ा का केन्द्र है। दादा सारे मुंगरापाड़ा का एकछत्र दादा है।

दादा—वह दादा नहीं, जो अपने लाड़-प्यार की विपुलता से बच्चों का दादा कहा जाता है, बल्कि बम्बई का वह ‘दादा’, जो ‘चीर-डालूँ, फाड़ डालूँ’ का नारा लगाकर, जेठ-बैशाख की धूप-सा छाया रहता है इस बस्ती पर।

दादा के जीवन का प्रतिबिम्ब एक भयावह इमली का पेड़ है यहाँ, जिस पर अक्सर कौए ही बैठते हैं। कबूतरों और अन्य कोमल-प्राण विहँगों के जोड़े अक्सर आम के उस छोटे-से वृक्ष पर बैठते हैं, नूर की कमल-नाल-सी कलाइयों की मोड़ का पानी पीकर, जिसके मुँह में दूध के दाँत आ गए हैं।

नूर को इस भोंपड़े में आए तीन वर्ष हुए।

दो-तीन महीना कमी-बेशी, इस आम्र-वृक्ष को भी तीन वर्ष हुए। इन तीन वर्षों में बड़े-खुले दोनों, पर फलहीन भी दोनों हैं। दादा की खूँखार जीवन-छाया में नूर कुम्हला-कुम्हला जाती है, इमली के उस बूढ़े, मनहूस वृक्ष के साए में इस आम्र-वृक्ष के कपोल पीले हुए जाते हैं।

...कल रात जोर की हवा चली थी। इमली के पेड़ की वह

५८/बोरीबली से बोरीबम्बर तक

मनहूस डाल टूटकर गिर गई, जो फाँसी के फंदे-सी आम्र-वृक्ष के सिर पर लटकी रहती थी। आज कौए कम आए थे।

कबूतरों के जोड़े आज बहुत खुश थे।

नूर ने बाल्टी ऊपर उठाई, उसकी कमल-नाल-बनी कलाइयाँ मुरकीं—आम्र-वृक्ष विहँस पड़ा...

आठ

तभी दादा की आवाज सुनाई पड़ी—“नूर !”

नूर चौंकी, नजर पहले इमली के पेड़ की ओर गई, वह रात की मार से सहमा खड़ा था। नूर को आज अ-जाने ही इस मनहूस पेड़ पर दया हो आई—पेड़ मनहूस है, पर छाया तो इमली की घनी और शीतल है !

दादा लाख बुरा था, बदनाम था। दुनिया के लिए वह मनहूस दरख्त था—पर नूर के लिए तो घनी, शीतल छाया।

नूर ने, ‘हाँ, जी !’ कहकर, दादा की ओर मुँह किया—अजनबी को देखा, गुलाबी दुपट्टा सरका, मुँह फेर लिया। आम्र-वृक्ष की सघन डार से गिरा एक पात उसके आँचल को गुदगुदा गया। नूर शरमा गई।

“मैं अंदर चलती हूँ,” कहकर उसने बाल्टी हाथ में ली और

अंदर चली गई ।

अंदर 'स्टोव' जलता रहा ।

बाहर खाट पर बैठे-बैठे दादा-बीरेन की बातें चलती रहीं ।

बीरेन ने पाया, यह व्यक्ति बाहर से और, अंदर से और है ।

जल-स्रोत की राह में वह अंतिम प्रस्तर है, जिसके विशाल वक्ष का आधार ले जल-स्रोत कल-कलनाद करते निर्मल-सुन्दर निर्भर की योनि में जाता है...

टटोलकर अच्छा पाया, तो बीरेन की वाणी निर्वध हो चली । अल्मोड़ा से यहाँ तक पहुँचने का सारा कच्चा चिट्ठा वह दादा को सुना गया ।

अपनी राम-कहानी के आखिरी मोड़ पर पहुँचकर, बीरेन ने दादा की ओर आँखें खोलیں—दादा के भारी पलक भीगकर और भारी हो गए थे ।

"खुदा कसम, बड़ी पुरदर्द कहानी है तेरी, ठाकुर !" दादा बोला—"पर, यार, न कहीं रिश्तेदारी, न कहीं कोई सहारा या नौकरी हो—इतनी बड़ी बम्बई में तू आखिर कहाँ जाएगा ? हत्तेरे बम्बई की ! खुदा कसम, बुरी राह पड़ गया, तो मेरी तरह जिंदगी बरबाद हो जाएगी ।" आज जैसे पहली बार दादा को महसूस हुआ कि उसकी जिंदगी बरबादी के सिवा कुछ नहीं और पत्थर जिसे लोगों ने कहा, वह दिल पहलू में कराह उठा । आँसू न छलक आएँ, इस बेचैनी में दादा ने नूर की नूर-भरी बरौनियों में बड़ी गहराई तक झाँका—"चाय तैयार नहीं हुई, नूर ?"

जेठ मास की दुपहरी में निंबुई शरबत-सी राहत दे गई नूर—
"जी, शक्कर मिला रही हूँ । अभी लाई ।"

जब तक चाय न आई, दादा वीरेन से कहता रहा—“दोस्त, आज से तीन-चार बरस पहले मैं भी बिना राह-मंजिल का था । खूब दारू बेचता, खूब पैसे कमाता—गुलछर्रे उड़ाता था मैं; पर जिंदगी में राहत न थी । एक फासला था जैसे राहत और मुझमें । तभी नूर मिली…”

शहद-सा खाँसकर, तभी नूर चाय ले आई ।

दादा हँस पड़ा—“नूर !”

“जी !”

“अब ये यहीं रहेंगे—ये ठाकुर साहब, मैंने कहा ।”

“जी !”

“सोचता हूँ, नूर,” दादा संयत स्वर में बोला—“जिंदगी में न-जाने कितनों को गुमराह किया होगा ? सोचता हूँ, कुछ भलमनसाहत भी इन हाथों हो जाय । ठाकुर साहब अल्मोड़ा-नैनीताल के रहने वाले हैं…”

“नैनीताल के रहनेवाले हैं ?” अनजाने हाँ नूर के मुँह से निकल गया । अपनी उतावली पर वह बेहद शरमा गई, मन हुआ दौड़कर अंदर भाग जाए !

पर तभी दादा ने पूछा—“क्यों नूर, नैनीताल का नाम सुनते ही तुम चौंक क्यों गई ?”

“जी, यों ही,” अँगूठे से धरती कुरेदते-कुरेदते नूर बोली—“बचपन मेरा वहीं बीता—तल्लीताल में । वहाँ पिताजी यजमानों के यहाँ वृत्ति-अब्बाजान की बात मैं कह रही थी न ?…” नूर न-जाने क्यों घबरा गई ।

“हाँ, हाँ ! लेकिन यों रुक क्यों गई ?” दादा न पूछा । पर

नूर छुटकारे की साँस ले भी न पाई थी कि दादा अँगुली उठाकर बोला—“यह ‘वृत्ति’ क्या कहा था तूने, नूर ?”

पर तब तक नूर सँभल चुकी थी—“नैनीताल की पहाड़ी बोली में यह लफ़्ज़ आता है । इसका मतलब खाना पकाना होता है । मेरे अब्बाजान साहब के यहाँ खानसामा थे न !”

बीरेन ने कुछ खोजने की चाह में दृष्टि ऊपर उठाई—पर चाँद के मुख पर गुलाबी घटाएँ घिरी थीं ।

दादा बोला—“अरे, नैनीताल तो मैं भी गया था, री । कर्नल साहब के यहाँ तब मैं अर्दली था । पर, उसी बरस कर्नल साहब विलायत चले गए । अँग्रेजों के राज में उसी बरस सूरज डूबा था । कर्नल साहब बड़ा दरियादिल आदमी था । जाती दफा अपनी सारी जायदाद नौकरों को बाँट गया...मेरे हिस्से कुछ न आया । मुझसे नाराज था ससुरा !...एक पहाड़न मेरे साथ जरूर भाग आई थी ।”

नूर कुछ न बोली ।

बीरेन कुछ न बोला ।

दादा बोला—“खैर, कहाँ की बात कहाँ गई । हाँ, वैसे नैनीताल में मैंने भी पहाड़ी बोली सीखनी चाही थी । वहाँ एक ब्राह्मण रसोइया था—मुसलमानों से नफ़रत करता था । मैंने एक दिन सलाम किया, तो ‘कुकुरी चेल’ बोला । वहाँ दूसरा गोरखा था, उससे पूछा तो ‘राँगी का छोरा’ बोला...तो सुना, नूर ?”

“जी !”

“भाई साहब यहीं रहेंगे ।”

“जी ।”

“लेकिन, नूर,” दादा हँस दिया—“तेरे हाथ की पकाई रोटी

न खाएँगे। जात के ठाकुर हैं ! कहीं होटल-बोटल में इनके लिए....”

“मेरे हाथ की पकाई खाने में एतराज है इनको ?” बीच में ही नूर बोली। फिर ठाकुर की ओर संकेत कर धीमे-धीमे बोली—
“किले साँची हो ?”

“क्या पूछती हो, नूर ?”

“मैं तो आपसे बातें कर रही हूँ,” नूर बोली—“बाजार से सब्जी लानी है।”

“हा-हा-हा !” दादा अट्टहास-सा कर उठा—“सुना, ठाकुर, यह बाजार से सब्जी मँगाती है ? अरे, मटन-कलेजी मुर्गी-बुर्गी भी तो कभी मँगा लो ? खुदा कसम, सबसे बड़ी मुसीबत यही है। मुसलमान की बेटो-बहू होकर, माँस से परहेज है ! खुदा कसम, मुझसे मार-मारकर मुसलमान नहीं बनाया जाता...क्यों, ठाकुर, तुम तो माँस से परहेज नहीं करते ?”

“भूठ क्यों बोलूँ,” वीरेन मुसकरा दिया—“पर, कहीं आप गाय-भेंस का माँस तो नहीं...?”

“हत्तेरे की !” दादा हँस दिया—“मुझे कोई ऐसा-वैसा दरिद्र मुसल्ला समझा है क्या ? तो तुम नूर के हाथ की पकाई...हा, हा ! लेकिन चाय तो तुम पी गए, यार ! क्यों, कैसी थी ?”

“बहुत मीठी।” वीरेन हँस दिया।

“क्यों तारीफ करते हैं ?” नूर भी हँस दी, और दादा भी हँस दिया।

इमली के पेड़ ने हँसकर नीचे देखा।

आम का पेड़ मन-ही-मन खिलखिला रहा था ।

“तो मैं चलूँ, नूर ! अरे, हाँ, बताना भूल ही गया तुम्हे !”
दादा बोला । फिर बताया कि कैसे भैया जी का बेड़ा गर्क किया रात को !

बोला—“मैं तो स्टेशन से बाहर ठाकुर को केवल इसलिए ले आया था कि कहीं शोर कर देगा, तो जान आफत में पड़ जाएगी ! पर ठाकुर तो भीगो बिल्ली है ! खुदा कसम, इसकी लड़कियों की-सी मासूमियत दिल पर काबू कर गई, नहीं तो...हीं, हीं ! मैं भी खबती हूँ । तो चलो, ठाकुर, बाजार चलें...अरे, यार, तुम्हारा पायजामा तो फट गया है ? कमीज भी गन्दी है । चलो, पैतीस रुपए खुदा ने दिए हैं । काफी हैं ।”

और दादा बाहर आ गया ।

भगवान् भास्कर की किरण-भुजाएँ, चिंतामणी के सूरदास की तरह, झरोखों-वातायनों तक आ पहुँची थीं ।

बाहर मैदान में सुन्नर चक्कर काट रहे थे ।

पर, वीरेन के मस्तिष्क में एक ही बात चक्कर काट रही थी—
“किलै साँची हो ?”

तो क्या...?

नौ

राह चलते फरनाण्डिस डीसोजा मिल गया। बड़ी रंगीन पोशाक पहनी थी। 'दिलीप-कट' बालों की गिरी लटें उठाते बोला—“सलाम दादा !”

“सलाम डीसोजा,” दादा बोला—“क्या यार, डीसोजा, तू भी ढोल-चमारिनों के-से घाघरे पहनता है ? मरद के जिसम में जनाने कपड़े बुजदिली की निशानी हैं। खैर पट्टे, बुजदिल तो तू है ही ! पुलिस की जरा मार पड़ते ही, सारा खाया-पिया जमीन में मिला दिया ! खुदा कसम, चीर डालता, फाड़ डालता...अगर उस दिन...”

तभी दोनों हाथ पकड़कर, खिसियानी आवाज में फरनाण्डिस बोल उठा—“काहे कूं, रे दादा, खाली-पीली गरीब का ऊपर गजब करता है ! कसम ईसामसी की, तुमेरा नाम कभी निकले, तो जबान कूं खींच लेना ! क्या, हम दगाबाजी करिगा नहीं। हाँ, रे दादा।

हम आज सुबह-सुबह गिरा जाता है। सनडे है ना ? फिर क्या, आज रात को आईगा !.....”

और डीसोजा फरनान्डिस कन्नी कटाकर चला गया ।

“हरामी है साला !” दादा बोला—“उस दिन की बात है, वो कपड़ेवाले देसाई की छोकरी कपड़ा लाने गई, तो इसने जान-बूझकर, पहले ही चोली छुपा दी थी । वह कपड़ा लेकर चलने लगी तो खुद पूछता है, ‘देख लो, कोई कपड़ा कम तो नहीं ?’ उसने—सावित्री था उसका नाम—तो क्या, उसने देखा, तो बोली—‘एक कपड़ा कम है,’ तो नालायक पूछता है, ‘कौन-सा ?’ वह बेचारी क्या जवाब दे ?.....खुदा कसम, कहीं अपनी नूर को ऐसा पूछा होता तो..”

आँखों में उतरे खून के लौट जाने तक, दादा चुप रहा ।

वीरेन तांगे के टट्टू की तरह चलता रहा—उसकी दृष्टि एक ही दिशा में घूम-फिर रही थी—‘किलै साँची हो ?’—तो क्या...?

दादा कहता गया—“फिर साला खुद ही पूछता है, ‘अईसा बाबा, हमको कइसे खबर पड़िगा ? धोती, सर्ट, टावेल, सदरा... क्या, कुछ नाम बोलो ?’ छोकरी भी साली बदचलन, ‘चो...ली’ कहते-कहते शरम और गुदगुदी से पीली पड़ गई...उधर से सावित्री की माँ ने उसके भाई करसन को भेज दिया, कि ‘सावित्री डीसोजा ना त्याँ कापड़ा लेवा गई हती; हवे घणी वार थई गई छे । जरा जोता आवजे, करसन !’...करसन जब पहुँचा, तो डीसोजा उस बे-पर पंछी को आखिरी चुम्बन देकर विदा कर रहा था.....खुदा कसम, मैं होता.....फिर अइसे भी अपन, यार, अब जरा सँभल के चलता हूँ....”

तभी देसाई की दकान आ गई ।

वीरेन के लिए कुर्ते-पायजामे का कपड़ा खरीदकर दादा आगे बढ़ा। पर फिर 'जरा इसे थामना, ठाकुर, तूर के लिए गुलाबी दुपट्टा ले आऊँ,' कहकर पीछे मुड़ गया। दुपट्टा लेकर लौटा, तो हाथ दबाकर बोला—“वो ऊपर बारी में खड़ी दिखती है न ? वही है—सावित्री !...कसम से कभी अपनी नूर यों.....”

वीरेन को लगा—नूर के लिए यह कुछ भी कर सकता है।

“गुलाबी दुपट्टा उसे बहुत पसन्द है,” दादा बोला।

° ° °

भाजीपाले की मार्केट में आकर, दादा ने कुछ काँदा-बटाटा^१ लिया और एक छोटी-सी बंद गोभी ली। फिर दोनों लौट चले।

दादा वीरेन के कंधे पर हाथ रखे बोला—“ठाकुर, जब तक तुम्हें कहीं अच्छी नौकरी नहीं मिल जाती, मेरे यहाँ पड़े रहो। क्या बताऊँ, यार, जब मेरे पास पैसे थे, तब अक्ल नहीं आई। सारा पैसा जुआ-सट्टा-दारू और रंडियों में उड़ा दिया। इसी मुँगरापाड़ा में मुझे नौ बरस हो गए...आने के बरस ही मैंने यहाँ दो मद्रासी दादाओं को चीर डाला था...सी...ई...ई...ई...!...बस, तब से मेरा रौब यहाँ गालिब है। पर पिछले दो बरस से धंधा-पानी सब चौपट है...”

वीरेन चलता, सुनता रहा।

दादा ने सामने 'अलीबख्श कलीहुसैन फर्नीचर मार्ट' की ओर इशारा किया—“मेरे हाथ-नीचे के छोकरे आज गुलछरें उड़ा रहे हैं। यह अलीबख्श एक रुपया बाटली के हिसाब से मेरी दारू सप्लाई करता था, और कलीहुसैन की क्या कहूँ...सब काम किए, यार,

पर यह औरत बेचने-फँसाने का धंधा मुझसे कभी नहीं हुआ । फिर जब से नूर मेरी जिन्दगी में आई है……”

नूर का नाम मुँह तक आते ही दादा गद्गद् हो उठता है ।

‘सामने से गुजरे तो फरनान्डिस ने अपना मुँह ‘रसीद-बुक’ में छिपा लिया । द्विवेदी भवन की तीसरी मंजिल से रामा गणपत दादा को सलाम कर रहा था ।

तभी दादा ने पूछा—“क्यों, ठाकुर भाई, रहोगे मेरे साथ ? कसम खुदा की, पहले-जैसा बदमाश मैं अब नहीं रहा । पैसे क्या खतम हुए, कुछ बुराइयाँ भी खतम हो गईं । यह खीसा काटने का धंधा तो मैं छोड़ ही चुका था, पर इधर जरा कड़की में हूँ तू मुझे गलत न समझना । यों यहाँ सीधे रहो, तो कोई जोने न दे—सवा-सेर बनकर रहने से कोई हाथ नहीं लगाता……तो रहेगा न, भाई ?”

“मैं तो आपका एहसानमन्द हूँ, दादा । मुझे ऐसे बुरे समय में आप सहारा दे रहे हैं । मैं तो बम्बई आते ही घबरा गया था……”

“अरे, यार, मर्द होकर घबराना कैसा ? फिर तुम तो पढ़े-लिखे हो, यार ! अपने अलीबख्श की डाइरेक्टरों से बहुत दोस्ती है । कुछ फिल्मी-विल्मी नग्मे भी लिखते हो ?”

“इसी शौक में ज्यादा चला आया ।” वीरेन हँस दिया ।

“हो……ही……जवानी में तो नग्मे लिखने का शौक मुझे भी था,” दादा भी हँस दिया—“गज़ल-रूबाइयात लिखा करता था । एक नज़्म सुनाऊँ……खैर, जाने दे, यार ! बहुत पुरानी चीज हो चुकी……तू कुछ सुना न ?……”

“फिर कभी सुनाऊँगा ।”

भोंपड़ा नजदीक आ गया था ।

बाहर पड़ी खटिया पर विट्ठल बैठा था ।

दादा को देखते ही, 'सलाम, दादा' कहकर, खड़ा हो गया । वीरेन को साथ में देखकर चौंका । दादा, वीरेन दोनों जब बैठ गए, तो पूछा—“क्या, दादा, ये भाई साहब को भी जोड़ी में लाए क्या ? आई शपथ, इस भाई साहब का सूरत देखकर तो कोई ठोला साला शक भी नहीं पकड़ेगा !...”

“चुप कर पांड्या !” दादा ने दपट दिया—“क्या रे, विठ्ठल, साला सबको अपना-सरीखा समझता है ? यह तो हमारे भाई साहब हैं । पढ़े-लिखे हैं, फिल्म में नग्मे लिखने आए हैं । तू घाटी साला नग्मा क्या समझेगा ?”

“अरे, दादा, समझता है । नग्मा पोरी* को कहते हैं ! सिनेमा में, क्या, ज्यास्ती करके नग्मा छेड़ने का लावनी आता है—क्यों ?”

“घाटी का घाटी ही रह गया तू !” दादा हँस दिया—“लक्ष्मण, दामा जी, सोना जी...और कोई नहीं आया ?”

“वो लोग सीधा कालीना गयेला है । मैं तो आपको बुलाने को आया, क्या । भाई साहब को भी ले चलोगे, क्या ?” वीरेन की ओर इशारा कर, विट्ठल बोला—“क्या, दादा ! फिल्म में हीरो बनने को धररोज बोरोबन्दर, दादर और बाम्बे सेण्ट्रल पर दश-बीस हीरो-हिरोइन उतरते...ही...ही...क्या, पीछे हीरो लोग चौपाटी-चर्चगेट—धोबीतलाब पर बूट-पालिश, चम्पी-मालिश करते । क्या, हीरोइन लोग कमाठीपुरा, गोलपीठा, पवन पुल...”

विट्ठल न-जाने कब तक बकवास करता कि दादा ने एक थप्पड़ कस के मारा—“चुप, साला !”

विट्ठल चुप हो गया ।

दस

विट्ठल और दादा चले गए थे ।

जाते-जाते, वीरेन से कह गया था दादा—“तुम घड़ी-भर बैठो, ठाकुर ! मैं बारा बजे तक आ जाऊँगा...अरी, नूर ! मुझे आने में देर हो जाए, तो ठाकुर भाई को खाना खिला देना...”

°

°

°

वीरेन बाहर खाट पर बैठे-बैठे, सोच रहा था—न-जाने कौन-सा संयोग उसे यहाँ ले आया है ?

यह पूरे छः फुट की ऊँचाई का मुसलमान—मूँछे इतनी घनी कि डर लगे, उस पर मुसलमानी की निशानी के तौर पर नाक के छिद्रों के पास एकदम सफाचट ! डाँटता है, तो भालू-सा बिफरकर—हँसता है, तो बच्चों-सा किलककर ।

बाहर चबतरे के पास—

इमली-ग्राम के पेड़ पर वीरेन की दृष्टि जा अटकी । मन में प्रश्न उठा—इस मनहूस दिखनेवाले दरख्त की बगल में भी यह आभ्र-वृक्ष किशोरावस्था में ही तरुणार्थ से गदरा गया है ! कांटों की सेज पर शतदल कैसा महक-महककर पँखुड़ियाँ पसारता है !

शतदल और पँखुड़ियों की बात सामने आते ही—अजाने ही, नूर की तस्वीर जैसे आँखों में उतर आई । दादा के यहाँ कांटों में शतदल-सी ही तो है यह ? जैसे इस विशाल इमली के पेड़ में कोई कलियों की लड़ी पिरो दे ! वीरेन को आश्चर्य हुआ, यह डेढ़-हड्डी की लड़की दादा के साथ बीबी का रिश्ता कैसे निभा रही होगी ?

मन-तुरंग कितना वेगशील है !

वीरेन को पंडित की याद आई ।

गाँव की बात है । एक दिन धंधार जाते समय, पंडित ने पिरोल^१ समेट रही एक किशोरी को छेड़ दिया था । पहाड़ी में उसने कहा था—“पिरोल भौत बटोरि है, छ्योड़ी ! कलेजीक काँख पड़ी हौस लै बटोरि ले !”

अर्थात् ‘पिरोल’ तो तूने काफी बटोर लिया है, अब हृदय के कोने में पड़े अरमानों को भी बटोर ले; और पंडित ने उसका कुसुमिया पिछोड़ा ऊपर उठा दिया था ।

वीरेन को याद है, उसने कहा था—“क्या, पंडित, तू भी छोटी-छोटी बच्चियों को छेड़ता है !”

पंडित हँस दिया था—“तुम खसियों^२ की अकल भी हल के लठ्ठूड़-सी मोटी होती है । बावले, मिर्ची और औरत—जितनी छोटी,

१. चीड़ के तिनकों को कुमाऊँ में ‘पिरोल’ कहते हैं । यह ‘पिरोल’ गाय-भैंसों के नीचे बिछाने के काम में लाया जाता है । २. राजपूतों ।

उतनी ही तेज ! समझा ?”...

तब वीरेन, शायद, न समझ सका था !

अब समझने की कोशिश करता है—जब बम्बई की सड़कों में उसने छोटी-छोटी लड़कियों को भी चोली-ब्लाउज में कसे बड़े-बड़े उरोज प्रदर्शित करते देखा है। पहले उसे शक होता था, कि इतनी छोटी अवस्था में भी... इस उम्र में तो गाँव की लड़कियों और लड़कों के वक्ष में कोई अंतर नहीं रहता !...

वीरेन नूर के विषय में ही सोचता रहा।

कहती थी, नैनीताल में बचपन बीता है। तभी तो पहाड़ी बोली जानती है। पूछती थी—‘किलै साँची हो ?’ याने, क्या सत्य कह रहे हैं आप ? वीरेन कैसे कहे, कि ऐसे प्रेमल हाथों से बनी रोटो तो क्या—विष-वारुणी भी वह पी सकता है ! कैसे पूछे कि ‘सच कहो, तुम्हारे पिताजी वहाँ, साहब के यहाँ, खानसामा-बावर्ची थे या यजमानों के यहाँ पुरोहित ?’

वीरेन को लगता है, जैसे यह लड़की नैनीताल की मिट्टी से खेली है; जैसे नन्दादेवी-नन्दाकोट की बर्फीली हवाएँ ही उसे इतना गोरा-गुलाबी बना गई होंगी, बचपन में ही नहीं—यौवनाकाश में ‘आसाढ़स्यप्रथम दिवसे’ की बदली घिर आने तक। विनसर के बगीचे के सेव की-सी अरुणाई, जो सरू के कपोलों पर तिरती थी, जाने-अजाने, नूर के कपोलों पर भी क्यों तिर जाती है ? उसके गुलाबी ड्रपट्टे का अक्स तो नहीं उतरता !

हो सकता है, यह नूर मुसलमान न हो ? ब्राह्मण-कन्या...

हो सकता है, मुसलमान ही हो ! वीरेन का भ्रम हो सकता है ! कहाँ नैनीताल की ब्राह्मण-दुहिता—कहाँ यह दादा ! तंदूरी

रोटी-सा भद्दा ! तीन लम्बे बरसों तक साथ कैसे निभता ?

मुसलमान ही है । मुसलमान ही होगी...

वीरेन का मन कुछ तीता हो आया...लेकिन उसे नूर से क्या लेना-देना ? अपनी वस्तु-स्थिति का ध्यान आते ही, वीरेन की सारी भावुकता खो गई । आगे इतनी बड़ी जिंदगी पड़ी है । इतनी दूर मंजिल पड़ी है—कैसे पूरी होगी ? अनिश्चित भविष्य-रेखा वीरेन की धुंधली आँखों में बिजली-सी कौंध गई...

और वीरेन सोचता रहा—

चलो, यहाँ—अनिश्चित ही सही—एक आधार मिल गया है । इस बीच, प्रयास करके, कहीं नौकरी-चाकरी ढूँढ लूँगा ।

यथार्थ-भावना की इस सतह पर आकर, वीरेन कुछ स्वस्थ हो गया । वह एक गीत की कल्पना में खो गया...दिरे, दिरे, ना...

नूर चूल्हा जला चुकी थी । तरकारी काटकर, उसे धोने के बाद, नूर ने सोचा, दादा देर से आएँगे, तब तक ठाकुर को एक कप चाय और पिला दी जाय—अच्छी-सी, मीठी-सी चाय !

नूर का मन भी मीठा हो आया ।

उसे अपनी नादानी पर हँसी आ गई, कि पहाड़ी में ठाकुर से बातें करने से ठाकुर क्या समझे होंगे ? शक तो, शायद, उन्हें हुआ हो, कि मुसलमान की लड़की—चाहे वह पहाड़ में ही क्यों न रह आई हो—इस तरह हिन्दी शब्द नहीं बोल सकती !

फिर उसके मुँह से तो निकल गया था—‘मेरे पिताजी वहाँ यजमानों के यहाँ वृत्ति...?’

अपनी इस उतावली पर, इस समय, नूर को दुःख ही हुआ ।

मन कड़वा हो आया ।

पलकें भारी हो आई—

ग्यारह

चाय का पानी तब तक नूर चढ़ा चुकी थी...

गीली पलकों पर गुलाबी दुपट्टे की छाँह किए, नूर विगत चार वर्ष पूर्व के अतीत में खो गई...तब की स्मृतियों में, जब वह नूर न थी, रेवा थी !

नूर तब रेवा थी !

उसकी वेणी की महक से तल्लीताल महकता रहता था, उसके अनार-फाँक-से कपोलों का उतार-चढ़ाव निरख कलियाँ खिलना-मुरझाना सीखती थीं। जब वह बोलती, तो कोकिल लजाकर च्रप बैठी रहती डाल पर।

रेवा तब चौदह वर्ष की थी।

इस उम्र में जैसे स्वप्न सभी लड़कियाँ देखती हैं प्रीतम के—
रेवा भी देखती थी। और एक दिन, उसका स्वप्न भी साकार

हुआ । चाँदी की पाजेव, सोने की नथ उसे भी मिली । धवल माँग-रेखा सिंदूरी हो गई ।

उस दिन लाज के मारे रेवा के कपोल भी सिंदूर-से लाल हो गए थे ।

रेवा का प्रीतम आया घोड़े पर सवार होकर...

दुर्देव ! मल्लीताल की ड्योढ़ी पर शहर आए गीदड़ हाऊ-हाऊ की मनहूस तूर्य-ध्वनि गुंजा गए । मंगल-वाद्य गूँगे हो गए । रेवा की दाहिनी आँख में किरकिरी उठी...उसके प्रीतम का घोड़ा जोर से हिनहिनाकर आँगन से सड़क की ओर दौड़ पड़ा—पागल कुत्ते-सा ! सब देखते रह गए । रेवा का प्रीतम स्यात् पहली बार, केवल रेवा को ले जाने की खुशी में, घोड़े पर सवार हुआ था । उससे लगाम न सँभल रही थी...

घोड़े को लोग लौटाकर ले आए थे—पर रेवा का प्रीतम न लौटा, न लौटा । रेवा का प्रीतम न लौटा ।

नहीं लौटेगा ! नहीं लौटेगा !! नहीं लौटेगा !!!...

नैनीताल की खूबसूरत पहाड़ियाँ उस रोज बुढ़ापे में पहली बार क्रंदन कर उठी थीं । तल्लीताल के पानी से भरा ताँबे का कलश रेवा के आँसुओं से खारा हो गया था !

फिर—

जैसा कि एक हिन्दू-कन्या के साथ होता है, विधवा हो जाने पर, रेवा को भी पाँव-तले के फूल कांटे हो गए । माँ न थी, पिता थे—यजमानों के यहाँ 'ओम् विष्णुवेनमः', 'भद्रमस्तु' या 'कल्याणमस्तु' बेचकर गृहस्थी चला रहे थे, कि एक दिन—श्राद्ध-पिंड के लिए दायाँ

हाथ—बाँई जनेऊ छोड़े बिना हो—वैतरिणी-पार चले गए !

—अब रही रेवा, काँटों की भाड़ी में कनेर की कली, चम्पा के फूल-सी। द्वितीया का चाँद आता, उसकी सिंदूर-सूनी माँग में अपनी सोने की लड़ियाँ भर रूप-पंचमी मना जाता। लौकी-सी बढ़ रही थी रेवा।

लछमा चाची कहती—“बैरन सात शनि बाँध के लाई है पिछौड़े में ! हरि धनी भगवान्...” इतना कह चाची अपने ही सिर पर उलटे हाथ के नटौरे मारती और बिशना चाची से कहती—“दिज्यू, जवानी आते-न-आते दो घर सियार बसा गई; अब बैरन को जवानी पालक के पात, पूनम की रात-सी फूटी है, तो न-जाने...हरि धनी भगवान्, दिज्यू, परसों से विंदी के बौज्यू^१ को ताप चढ़ आया है...”

इसके बाद लछमा चाची ऐसा मातम मनातीं, जैसे विंदी के बौज्यू की अर्थी को आखिरी जल छिड़का जा रहा हो।

मुहल्ले में किसी के घर कोई मंगल कारज होता, तो रेवा की छाया से भी परहेज रखा जाता। उन्हीं दिनों भेंसालीकोट के श्मशान में एक डायन के अवतार लेने की बात फैली थी—मुहल्ले की औलाद-खसम से भरी-पूरी ब्राह्मणियाँ रेवा को सबसे बड़ी डायन मानती थीं, कि जिससे दिन-दुपहरी भी भय लगा रहता।

अनाथा रेवा आँसुओं के अर्घ्य से अपने सात शनिवाले पिछौड़े का आँचल भिगोती रहती। और शनियों को उसके आँसू इतने स्वादिष्ट लगे, कि वे चाहते दिन-रात, चौबीसों घड़ी-बारह पहर यह रोती रहे—रेवा के आँसुओं में उसके कुसम्यारू-से कोमल हृदय का

रक्त जो सिंचा रहता था !

उस दिन रेवा के पिता की तेरहवीं थी—

लछमा चाची बिशना चाची से कह रही थी—“हमारे ज्याठज्यू^१ भी श्राद्ध-पिंड देनेवाला पीछे नहीं छोड़ गए; छोड़ गए तो एक बैरन कपूतनी को, कि न-जाने कितनी पीढ़ियों का मुंह काला करेगी ! सुन तो, दिज्यू...हरी धनी भगवान्...किसी से कहना नहीं, अपनी ही बदनामी होगी, यह कपूतनी कल उस पान भरनेवाले खसिए^२ से आँख लड़ा रही थी...और अब तुम्हें क्या कहूँ, दिज्यू ?...”

जैसे और भी कुछ कहने को रह गया हो, यों लछमा चाची ‘हरि धनी भगवान्’ कह चुप हो रही...

और उस दिन रेवा की मन-कपोतिनी इतनी घायल हुई, कि बिन काजल के आँखें काली हो गई ।

नूर आँसुओं में डूबी हुई थी, कि लगा बाहर से कोई भाँक रहा है । गुलाबी दुपट्टे की कोर से आँखें पोंछ बाहर देखा, तो ठाकुर को खड़ा पाया ।

“कुछ जलने की-सी बास आई थी,” वीरेन धीरे-धीरे बोला—
“सो इसीलिए . . .”

अब नूर ने नज़र जो चूल्हे पर डाली तो देखा, चाय का पानी उबल-उबलकर आधा चूल्हे में चला गया था और पत्तियों के जलने की गंध कमरे-भर में फैली थी । बोली—“जरा आँख लग गई थी ।”

केतली में थोड़ा-सा पानी और डाल, अधबुझी लकड़ियों को जरा भाड़कर, नूर ने थोड़ी-सी चाय-पत्ती केतली में और डाली ।

जरा आँच लगते ही पानी फिर सी-सी सिसकने लगा—

“यों सिसक-सिसककर कितने दिन काटोगी, गुसैणी ?”

रेवा ने सिर ऊपर उठाया, तो थोकदार धनसिंह के भतीजे करमसिंह को सामने पाया। रेवा के लिए वह अपरिचित न था। रेवा पानी भरने को जब कभी भी नील आती, आते-जाते करमसिंह मिल ही जाता। बल्कि कभी नीले पर ही मिलता, तो रेवा के सिर पर फौल^१ चढ़ाने में भी मदद करता।

वह जैसे शुरू से रेवा की मासूम आँखों में कुछ भाँकता रहा है, पर रेवा ने उसकी आँखों में आज पहली बार भाँका—और पाया करमसिंह की आँखों में उसके लिए अपनापन है—अपनापन, जो उसे अपने घर में कहीं नहीं मिल पाता।

रेवा उसे बस देखती रही, घायल कपोतिनी-सी।

करमसिंह मुड़ा, फौल भरकर रेवा के निकट रखने के बाद, बोला—

“गए दो बरस से तुम्हारी करुण दशा देखता रहा हूँ, मन तो न-जाने कब का तुम्हारा हो गया। पर, राह न थी। तुम ठहरों ब्राह्मण घर की, मैं ठहरा खसिया ! है न ?”

रेवा कुछ न बोल सकी।

“ब्राह्मणत्व का यह दर्प तुम्हें डस लेगा, रेवा !” करमसिंह बोला—“ब्राह्मणों के छः पाले की जनेऊ डालनेवाले लाड़लों में से, तुम्हें कोई न अपनाएगा !” तुम, यों ही सिसक-सिसककर, आँसुओं के ताल में डूब जाओगी, गुसैणी !”

१. पानी भरने का घड़ा—ताँबे का।

“पर, मैं कलूँ भी क्या, ठाकुर ?” पहला बोल फूटा, रेवा के आँसुओं का बाँध भी टूट गया—और वह पिछौड़े से आँखें दबाकर भी पैर-तले की धरती सूखी न रख सकी ।

करमसिंह बोला—“रोती क्यों हो ? एक बात कहूँ, बुरा न मानो तो ?”

°

°

°

और इसी ‘एक बात’ को कहके, वह रेवा को हलद्वानी तक ले आया था—नैनीताल से कोसों दूर ! रेवा के पगों की नाप से...

चाय उबल रही थी, नूर ने केतली उतारकर नीचे रखी । उबाल थम गया, पर उसके मन में जागे रेवा के अंतस का उबाल और जोरों से ऊपर आया—एक कप चाय में दो छटाँक शक्कर छोड़ते-छोड़ते, नूर रेवा की दास्तान सोच गई, कि कैसे हलद्वानी में दो महीने अपने पास रखकर, करमसिंह ने उसे बरेली के मशीदा कलाल के हवाले कर दिया, और कैसे मशीदा, जुम्मन और शम-शुल्ला की बाँहों के सहारे वह पिल हाउस की तीसरी मंजिल तक पहुँच गई—जहाँ से यूसुफ दादा ने उसका उद्धार कर, यहाँ—मुंगरा-पाड़ा में आश्रय दिया...

बस, इतनी-सी दास्तान भी दो छटाँक नीम से ज्यादा कड़ुवी थी । चाय के कप में दो छटाँक शक्कर थी—नूर के जीवन के प्याले में दो छटाँक नीम पड़ी थी । चाय मीठी—बहुत मीठी थी !

जिंदगी कड़ुवी—बहुत कड़ुवी थी !

...और जिंदगी की इस कड़ुवावट के पीछे जो था—वह भी तो ठाकुर ही था !

वह भी तो ठाकुर ही था !!!

बारह

नूर के मन के तार जोर से भनभना उठे ।

चाय का प्याला हाथ से नीचे गिर गया, लेकिन उसकी खनक मन के तारों की भनभनाहट में विलीन हो गई । मन के तारों की टूटती साँसें न-जाने कब तक नूर को बावली बनाए रहतीं, यदि आँखों-आगे वीरेन न खड़ा होता ।

सहानुभूति के स्वर में, वीरेन बोला—“कोई बात नहीं, लेकिन चाय के लिए आप व्यर्थ ही कष्ट कर रही थीं । मेरे लिए परेशान होने-जैसी कोई बात नहीं ।”

नूर का मन और कड़ुवा हो आया ।

‘मेरे लिए परेशान होने-जैसी कोई बात नहीं ।’ वह व्यक्ति कह रहा है, जिसकी सूरत ने घावों की सिलाई के कच्चे तागे तोड़कर रख दिए हैं ? भला ऐसे के लिए परेशानी क्या. जिसके विरादर ने

उसे कसाई के बकरे की तरह बाजार में बेच दिया ?

बोली, “सो तो वाजिब है । पर एक बात कह दूँ, दादा जरा तेज किस्म के आदमी हैं—घर में ताक-भाँक उन्हें पसन्द नहीं !” इतना कह, यह देखे बिना ही कि वीरेन पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, नूर अन्दर चली गई ।

चाय का दूसरा प्याला भरा, बाहर भाखड़े^१ पर रख आई—
“चाय पी लीजिए ।”

वीरेन को कुछ न सूझा, चुपचाप चाय उठा ली । चाय थी—दो छटाँक शक्कर न थी ।

कहने को तो नूर कह आई, पर अन्दर आकर फफक-फफककर रोने लगी । आँसुओं से मन की कुंठा कुछ धुली, तो सोचा—ऐसी बात कहकर, अच्छा नहीं किया । कहीं बुरा न मान गए हों ? कहीं उठकर चले न जाएँ ?

मन में इस प्रश्न के उठते ही नूर सचेत हो गई । कहीं सचमुच चले गए, तो दादा न-जाने क्या समझें ? ...

दरवाजे के पास आड़ में खड़ी होकर बोली—“जी, मेरी बात का कुछ ख्याल न कीजिएगा । मुँहजली हूँ, मुआफ़ी चाहती हूँ ।”

“बुरा मानने की मेरी आँकात ही कहाँ, बीबी ?” वीरेन न-जाने कैसे कह गया—“अलबत्ता इतना कह दूँ, मुझे गलत न समझें, तो मेहरबानी ।”

नूर के मुँह पर जैसे किसी ने करारा तमाचा जड़ दिया हो !

क्या जवाब दे, कुछ सोच न पाई । चुपचाप अन्दर लौट आई । इतना तो अच्छा हुआ—नूर सोचती रही—ठाकुर मुझे मुसलमान लड़की ही समझते हैं । तभी न 'बीबी' कहते थे—उर्दू जबान में बात करने की कोशिश कर रहे थे !

वीरेन को, खटिया पर लेटे-लेटे, भपकी आ गई ।

खाना तैयार कर लेने पर, नूर बाहर आई । कनखियों से देखा—ठाकुर प्रगाढ़ निद्रा में लीन था । नूर गौर से वीरेन के चेहरे को देखती रही । कितना मासूम, निर्विकार चेहरा है ! तभी न दादा के दिल में भी जगह बना ली ? नूर को लगा, देर तक यों ही अगर इस शरूस को देखती रही, तो शायद उसके दिल में भी कोई जगह....

हिचकिचाकर, नूर लौट आई । हृदय में करमसिंह की बेवफाई की कड़ुवी स्मृतियों के बावजूद, नूर को लगा—यह कुछ और है । बेईमानी, बेवफाई और फरेबों से परे—एक अच्छा, एक ईमानदार आदमी ।

नूर अन्दर बैठी थी, पर जैसे दरवाजे की साँकल उसे बाहर खींच रही थी । वीरेन का चेहरा—हाँ, यही तो जैसे उसे खींचता है, कि बावजूद मन को लाख समझाने के, वह उसे देखना चाहता है—देखते रहना चाहता है । पिता के हाथ की मार खाकर, जैसे कोई बच्चा माँ की गोद में सिसकता-सिसकता, अभय होकर सो जाता है, इस भोंपड़ी में यह ठाकुर भी कुछ ऐसे ही, ठोकरों के बाद मिली हुई मंजिल-सी समझकर, सपनों में खो गया है ।

कौन-सा सपना आ रहा होगा उसे ?

लगता है, माँ इसके भी नहीं है !

नूर सोचती रही । दुनिया में उस हर व्यक्ति को नूर सहानुभूति

का पात्र समझती है—जिसकी माँ न हो ।

बारह बजे तक लौट आने की बात दादा कह गया था, अब दो बजे हैं । ठाकुर तो अभी सोया ही पड़ा है । न-जाने कब से सोने की ललक लिए जागता रहा है ? कम-से-कम खाना तो खा लें ?

लेकिन उठाऊँ कैसे ?—नूर ने सोचा ।

अचानक उसे शैतानी सूझी—पीतल की थाली में थोड़ा-सा गेहूँ लेकर बाहर गई और दाना कबूतरों के लिए मैदान में डालकर, थाली भन्न से ठाकुर के पैताने गिरा दी ।

अचकचाकर, वीरेन उठ बैठा ।

“जी, कबूतरों को दाना देकर लौट रही थी ।” थाली उठाते हुए नूर धीरे-धीरे बोली—“आपकी नींद का हर्ज तो हुआ, लेकिन खाना कब से तैयार पड़ा है ।”

“दादा आगए ?”

“वह न-जाने कब आएँ ?” नूर बोली—“कह गए थे, आपको खाना खिला दूँ ।”

“लेकिन,” वीरेन बोला “अकेला मैं खाकर क्या करूँगा ? कुछ ज्यादा भूख भी नहीं । उन्हें आ जाने दीजिए ।”

नूर वापस मुड़ गई ।

वीरेन फिर लेट गया—नूर जब भी आँखों-आगे आती है, कुमाऊँ की याद ताजी हो आती है । नैनीनाल के किसी कलाल^१ या बूचड़ की लड़की होगी । तभी न थोड़ी पहाड़ी बोली भी जानती है ? पहाड़ी में बातें करने को वीरेन का जी ललचाता है, पर करे

१. चूड़ी-कंधी बेचनेवाला मुसलमान ।

किससे ? नूर से ?

बाप रे, बाप !

जान-बूझकर मधु-मक्खियों का छत्ता कौन छेड़े ? दूर-दूर से मिठास बनी रहे—बस ।

वीरेन एक पहाड़ी गीत गुनगुनाता रहा—

“तितरी का पाँख

मेरी माया धरि लिये कलेजी का काँख ।

दूदि में को गाज,

आपुण जै नसणा ऐगे, कवाभैजो राज ।

अलमोड़ा मोहनी बुलानी किलै नै ?

रामगाड़ की पूला हिलौनी किलै नै ?”

०

०

०

इमली के पेड़ की छाया उत्तर-पश्चिम से पूर्व दिशा की ओर भागी जा रही थी—

नूर के मन का मृग-छौना भी कहीं दूर भावनाओं की ऊहापोह के सुनसान अरण्य में सरपट भागा जा रहा था । मन का मृग-छौना, कि जैसे आत्मा की सारी अकुलाहट, अंतर्द्वन्द्व की सारी खीच-तान से परे कहीं चल देना चाहता है, कि—जहाँ ये दिल लेकर दगा देने वाले ठाकुर नहीं, जहाँ यह दिन-रात शराब के धंधे में फंसे रहने वाला दादा भी न हो—जहाँ केवल—

हाँ, हाँ, जहाँ केवल कौन हो ?—

‘कौन हो ?’ नूर यह तय न कर पाई । तय कर लिया, तो इतना कि कहीं भी जाए—किसी-न-किसी की अपेक्षा बनी रहेगी । कौन जाने, कहाँ कैसा आधार मिलेगा ? सो जो मिला है, उसे न

ठुकराना, उसी के प्रति सन्नद्ध रहना अच्छा है ।

संध्या के पाँच बज चुके थे, पर दादा न लौटा । नूर ने बाहर भाँका, तो ठाकुर उठकर, जम्हाइयाँ ले रहा था ।

“आप खाना खा लें, नहीं तो दादा मुझ पर नाराज होंगे ।” नूर ने कहा ।

“दादा अभी तक नहीं आए ?”

“वह कब आएँ, क्या ठीक !”

“फिर ?” बीरेन एक फीकी हँसी हँस दिया—“घर के स्वामी न खाएँ—न आप, न दादा । भला मेरा खा लेना वाजिब है ?”

यह हँसी है कि फव्वारे का निर्मल पानी ? नूर को लगा, ऐसी ही कुछ फीकी हँसियाँ और यह व्यक्ति हँस देगा... तो...तो न-जाने क्या असर हो ? मन की सारी उलझनें न सुलझ जाएँ, सारी शंकाएँ नेस्त-नाबूद न हो जाएँ, मन के सारे घाव भर न जाएँ ? ...

‘इतनी दवाइयाँ मन के रोगी को एक साथ मिल जाएँ, यह ठीक नहीं’, नूर ने सोचा—बोली, “दादा तो आज आएँ, न आएँ; आप खा लें, थोड़ा-सा मैं भी खा लूंगी ।”

“थोड़ा पानी दे दीजिए,” बीरेन बोला—“हाथ-मुँह धो लूँ ।”

नूर पानी देकर, अंदर गई । खाना थाली में लगाया और खाट के पास ही तिपाई रखकर, उस पर थाली रख दी और पानी का गिलास भी रख दिया । भोजन सादा था । कुछ घी से चुपड़ी हुई पतली-पतली रोटियाँ, थोड़े-से चावल, थोड़ा दही, पापड़ और त्वर^१ की दाल और आलू-गोभी की भाजी ।

“पहले भी किसी मुसलमान के यहाँ खा चुके हैं आप ?” नूर किवाड़ की ओट में दुपट्टा कपोलों तक लाए खड़ी थी ।

“होटलों में खाना खाकर ज़िंदगी गुजारनेवालों के लिए यह सवाल कुछ खासियत नहीं रखता ।” हाथ का कौर थाली में रखते हुए, वीरेन बोला—“फिर खाना हिन्दू बनाए या मुसलमान—उसमें लज्जत और मिठास होनी चाहिए, बस ।”

“खाना अच्छा लगा ?”

“जायकेदार !” वीरेन बोला—“घर की याद ताज़ी कर दी है । यों हमारे पहाड़ में इस किस्म की ख़राक तो नहीं मिलती, पर लगता है, इसमें कुछ वह चीज है—होटलों और घर के खाने में जो फर्क होता है, उससे मेरा मतलब है !”

“रोटी लाऊँ ?”

“नहीं, बस ! अब आप भी खा लीजिए !”

“खा लूँगी,” इतना कह नूर अंदर चली गई ।

गुलाबी दुपट्टे के साए से कपोलों को आज़ाद किया । पर कौर कंठ तक न पहुँचा था, कि बाहर से विट्ठल की मनहूस आवाज़ सुनाई पड़ी—“बाई, बाई !”

एक चिरपरिचित आशंका से नूर का मन काँप उठा । गुलाबी दुपट्टा फिर माथे से नीचे खिसका और उसकी छाया में कपोलों की लालिमा स्याह पड़ गई । “क्या बात है, विट्ठल ? घबराया-सा क्यों है ?” नूर एक साँस में कह गई ।

“आतां, बाई ! काय भी साँगू ? पर मराठी तो तुमको भी नहीं आएगा !...” विट्ठल रुका, एक अजीब तीखी दृष्टि से वीरेन की ओर उसने देखा, फिर बोला—“कुरलावाला दारू की भट्टी पकड़ा

गया, बाई !”

“और दादा ?” नूर चीख-सी उठी ।

“दादा भी पकड़ा गया, बाई ! क्या करेगा ?” विट्ठल उदास स्वर में बोला—“विट्ठल पांडुरंग शपथ, आई शपथ, उस बेली^१ हम उधर नहीं होता, नहीं तो…”

पर नूर अंदर जा चुकी थी । दुपट्टा और नीचे खिसक आया कपोलों से—आंसुओं से बोभिल होकर ।

संध्या का सिंदूरी आनन अब आकर्ण-अधर-नासिका अवगुंठित हो चुका था ।

बाहर अंधेरे के भुरमुट में इमली का पेड़ साँय-साँय कर रहा था ।

आम्र-वृक्ष सिसक रहा था…

•

•

•

बड़ी मुश्किल से नूर के आंसू थमे, तो घर में चिराग जले ।

विट्ठल बोला—“दादा भाग तो गए थे, पर कालीना के पास पकड़ लिया गया । आई शपथ, क्या भुंभार माणस है ! पुलिसवाला तो पहले कुछ भी नहीं कर सकता था…रेड़ा^२ का माफिक भागता था । पुलिस इनसपेटर बोला—‘रुक जाओ, गोली मार देगा !’…”

“किधर की चौकी में रखा है उन्हें ?” सिसकते हुए नूर ने पूछा ।

“सांताक्रूज !…”

इतने में अन्ना स्वामी आ गया । दारू पीने का उसका वक्त हो गया था । आज वह खुशी के नशे में था । पिचन्ना ने तेरहवीं से

चौदहवीं में कदम रखा था, और आज उसकी सही जिंदगी का श्रीगणेश डिसोजा फरनान्डिस के इंग्लिश स्टाइल के चुम्बनों से होने वाला था ।

अन्ना स्वामी आज बगैर किराए के घोड़े पर सवार था । सौ तो 'एडवान्स' मिल ही गए थे, आनेवाले दिनों के लिए एक 'सीर' बँध गई थी । कपड़ों की धुलाई न लेने का 'वचन' भी डिसोजा ने दिया था—उसी डिसोजा ने, जिसने पिछले बरस पैसा न होने के कारण, दो महीने तक अन्ना स्वामी को कपड़े न दिए थे और वह मद्रास जाकर अपनी माँ की अर्थी मैले, दारू की बास मारते कपड़ों से ही उठा आया था !....

अन्ना स्वामी 'फुटपाली' के बादशाहों में से है, जो महीनों भूखे-नंगे रहकर, एक दिन कहीं से खुदा का छप्पर फाड़कर दिया हुआ माल-पानी पा जाते हैं, तो उसी दिन उनकी ईद भी हो जाती है, दीवाली भी, होली भी । वही उनका 'गुड-फ्राईडे', वही उनकी छब्बीस जनवरी, वही उनका पन्द्रह अगस्त...

सो, आज अन्ना स्वामी का दिल 'बकरी ईद' मना रहा था । दो बाटली दारू पीकर, चार प्लेट मटन चाप और दो प्लेट इडली सांभार और उत्तपा^१ दबाने को, उसका मन-कुविंद उतावला हो रहा था । इसके बाद उसका 'प्रोग्राम' कमाठीपुरा चौदहवीं गली में किट्टी के पास जाने का था....

आज अन्ना स्वामी के पास कड़काई न थी, माल-पानी था ।

माल-पानी—'फुटपाली' के बादशाहों का तख्ते-ताऊस और

सिंहासन-बत्तीसी !

उसी सिंहासन-बत्तीसी पर आरूढ़ अन्ना स्वामी की शरीर-उज्ज-यिनी के एकछत्र सम्राट मन-विक्रमादित्य ने आदेश दिया—

“ऐ, विठ्ठल ! वंज^१ बाटली कड़क !”

वे सब मौन रहे....

“सी-ई-ई-स....ऐ, विठ्ठल ! खामूस काहे कूं खड़ा है, रे ?” बाटली की जगह उत्तर तक न पाकर, स्वामी का पारा चढ़ गया—

“क्या रे, हमकूं उधारखाता समजता क्या ? देख... इधर कूं...दश-दश का पत्ता नाक ऊपर मारिगा....कईसा क्या, दाद किधर है ?”

“क्या बताएगा, स्वामी, अभी तुमको ?” विठ्ठल बोला—“हमेरा कुलदैवत कोप में आया है। दादा को ठोला^२ लोग ने घरजमाई बनाया।”

“अईसा ?” स्वामी विस्मय से बैलून होकर बोला—“तभी तुमेरा लोग का चेहरा पर कबूतर हग दिया है ! किधर का भट्टी पकड़ा गया ? किधर का चौकी में बंद है ? कईसा क्या, कुछ जमानत-अमानत का बन्दोबस्त किया क्या ?”

जवाब केवल विठ्ठल ने दिया—“कुरलावाला, सांताक्रूज। आई शपथ, उस वेलीं हम उधर नहीं होता....नहीं तो....अभी तो कोई बन्दोबस्त नहीं जमानत-समानत का।”

जिंदगी में पहली बार अन्ना स्वामी को ऐसा अवसर दिखा, जब किसी पर अहसान किया जा सकता है। उसने शून्य वीहड़ वन में ब्याई गाय-सी सभीता नूर की ओर देखा, उसके आंसुओं को देखा,

उसकी बच्चों की-सी सिसकियों को सुना—और किट्टी की एक साफ खूबसूरत तस्वीर उसकी आँखों में काँव के कलश में रखी मछली-सी तैर गई; जो सीमित पानी में तैरती है, दृष्टि से परे नहीं जा पाती । कोई पकड़ना चाहे, तो……

अन्ना स्वामी ने मन पर काबू पाने के लिए मुट्ठियाँ भींच लीं । बोला—“बाई, रोती काहे कूँ ?……अरे दादा, हमेरा जिगरी दोस्त है, हम उसको कईसे भी छुड़ा के लाईंगा……क्या रे, विठुवा ? ले दश रुपया—ठोला लोग का मुट्ठी में दबा देना, कईसा क्या, जल्दी जमानत होईगा……ही-ही-ही……कईसा क्या, कुछ बाटली-वाटली होईगा घर में तो……ही-ही……”

“आज कुछ नहीं है, स्वामी ।” विठुल बोला—“घर में दारू रखना दो महीने से बाई जी ने बंद करा दिया है । हम ले आता था कभी-कभी, आज हमको भी ‘चानस’ नहीं लगा ।”

अन्ना स्वामी ने नजर उठाकर गौर से नूर को ताका । उसे लगा, दारू से भी अधिक नशा तो किसी खूबसूरत जवान औरत के आँसुओं में होता है !……

नूर किवाड़ की ओट में चली गई, तो खाट पर बैठा हुआ वीरेन दिखा, स्वामी को । विठुल को पूछा—“विठुवा, हा कोण आहे ?”

“दादा चा लहान भाऊ ।” विठुल ने उत्तर दिया और स्वामी का दिया हुआ दस का नोट जेब में रख लिया ।

“अईसा !” मुंह का कुनैन झुकते हुए स्वामी अधेरी स्टेशन की ओर चल पड़ा ।

व्यभिचारिणी सेठानी-सी अंधेरी रात, सरक-सरककर, पवन से लिपटी जा रही थी ।

०

०

०

विठ्ठल, “अच्छा बाई, हम दादा की जमानत का बन्दोबस्त करने जाता है,” कहकर चला गया था । जाते-जाते ‘गोवा वाशिंग कंपनी’ के कमरे में मद्धिम हरी रोशनी दिखी, जिसे डीसोजा फरनान्डिस किसी खास मौके पर ही किया करता था । कुछ सोचकर, विठ्ठल को गुदगुदी-सी हुई और उसने पुराने कोट की ‘तिलस्मी जेब’ से निकालकर, दारू की छोटी शीशी होंठों से लगा ली ।

आज शांता के यहाँ भी ‘लाइट’ जोर में होगी !

विठ्ठल, ‘सुंदरा मना मदि भर ली, जरा नहीं ठरली, हवेलींत शिरली; मोत्याची माँग……नारी-ग, ग-ग-ग-ग-ग—ग, कुणाची साँग ?……नारी ग,……’ गुनगुनाता, अंधेरी के ‘प्लेटफॉर्म नं० तीन’ पर चला गया……

जुनानागरदास रोड के मोड़ पर, अलीबख्श की बिल्डिंग के ‘थर्ड फ्लोर’ में साढ़े आठ बजे ही रोशनी गुल हो गई थी । कस्तूरी बिल्डिंग में रहनेवाले सेठों के बर्तन घिसनेवाला रामा गणपत तीसरे दरवाजे से दादा को भोंपड़ी की ओर खाना हो रहा था । आज नगीनदास सेठ के घर उनका दोस्त बरजोरदास आकर ठहरा था, महीने भर के लिए । बरजोरदास में जोर भी था और सौन्दर्य भी ।

नगीनदास की वामांगी वसुन्धराबाई ने इस खुशी में आज गणपत को पाँच रुपए का ‘हरा पत्ता’ दिया था । ‘हरा पत्ता’ जो हाथ में आते ही, गणपत की तमन्नाओं को हरी कर देता है । दो की दारू पीकर, चेम्बूर चला जाएगा—कांता काकी के यहाँ । तीन रुपए

उसे थमा देगा—और नंदा होगी, वह होगा ।

नंदा के लिए, कांता काकी ने, गणपत को तीसरे घरजमाई के रूप में पाया था ।

०

०

०

नूर के आँसू थमे, तो खाट पर कम्बल बिछाने आई । वीरेन उद्विग्न-सा खंभे के सहारे खड़ा था । मन उसका ग्लानि से रुआँसा हो चला था । नूर को आते देखा बाहर, तो शर्म से गड़-सा गया ।

बोला—“इसे आप मेरे मनहूस कदमों का नतीजा तो नहीं समझती हैं ?”

नूर जहाँ थी, वहीं रह गई—यह प्रश्न उसके लिए अप्रत्याशित ही था ।

“मैं हूँ ही बड़ी बुरी किस्मत का !” वीरेन कहता रहा—“जहाँ भी दो कदम जमीन पाता हूँ, वहाँ काँटे बिछने लग जाते हैं……”

इतना कह खंभे से वीरेन अलग हुआ, तो नूर ने देखा—खंभे की कमर गिली हो गई थी ।

नूर का मन भी भारी हो आया । बोली—“आपने तो यों ही दिल छोटा कर लिया है । जो किस्मत में लिखा है, अच्छा-बुरा—होता रहता है । उसे कौन रोके ? फिर दादा कोई आज पहली बार ही पकड़े गए हों, ऐसी बात नहीं है । धंधा ही ऐसा करते हैं, कि एक पाँव हमेशा उधर ही रहता है……”

वीरेन चुप रहा—जैसे जलते हुए फफोलों पर मरहम लगाते समय रोगी चुप रहता है ।

कंबल खाट पर बिछाते हुए नूर बोली—“आप बेकार परेशान न हों, कल-परसों तक दादा जमानत पर छूटकर आ जाएँगे……”

नूर अंदर चली गई। द्वार अंदर से साँकल चढ़ाकर बंद कर लिए। दिया मंद कर, बिस्तर पर लेट गई।

पर, मन के कपाटों में साँकल न चढ़ी थी।

०

०

०

बाँवे सेण्ट्रल पर उतर के, अन्ना स्वामी लेमिंगटन रोड होता हुआ, कृष्ण सिनेमा के पिछवाड़े आ पहुँचा। वहाँ मद्रासी छोकरो से दारू मिल गई, पर 'प्युअर' नहीं थी। दो रुपयों के साथ दो सौ गालियाँ देता हुआ, श्रीकृष्ण पुरी हाउस में चार आने की भेल खाकर, स्वामी ने सीधे फारस रोड की ट्राम पकड़ी।

बगीचे के पास उतरकर, स्वामी बेंतवाली चाल^१ की अगल-बगल भाँकता चलने लगा।

सोच रहा था, किट्टी के पास तो पैसे न होने पर, या कम होने पर भी जगह मिल जाती है। आज माल-पानी ज्यादा है, तो किसी नई चिड़िया को क्यों न चुगाए ?...

एक कुटिल मुसकान लिए, स्वामी बनारसी पानवाले की दुकान पर जा पहुँचा।

'राम-राम' करने के बाद, बनारसीदास बोला—“कहो, स्वामी, एक ही लगाएँ ?”

“दो लगाओ !” स्वामी बोला—“एक हमेरा, दूसरा कालाकांडी, टुकड़ा सुपारी; चूना-कत्था ज्यादा है। लौंग दो लगाना। तीसरे पान के लिए अभी आदमी भेजेगा।”

“भागूबाई के यहाँ जा रहे हो, स्वामी ?” बनारसीदास ने

१. बम्बई का एक मुहल्ला, वारांगनाओं का।

६४/बोरीवली से बोरीबन्दर तक

चुटकी बजाई ।

“तुमने कैसे जाना ?”

“पान से पहचान लेता हूँ !” और अपनी इस महानता पर, अपनी १७ कत्थई कौड़ियाँ बनारसीदास ने स्वामी को दिखा दीं । स्वामी ने उन्हें गिना नहीं, नहीं तो १ से ७ लगाने का ‘चानस’ अच्छा था...

०

०

०

भागूबाई अमरावती से इस रौरव में आई थी, पर उसकी बानी का अमरित ज्यों-का-त्यों था—जली रस्सी के बल की तरह । जो भी छोकरी उसके यहाँ आती, उसे बेटी की तरह रखती । हर तरह से उसके आराम का ध्यान रखती । छोकरी की इच्छा हो तो ‘गर्भ-पात’ के लिए जड़ी-बूटियाँ खाने को मजबूर न करती; और जबकि अन्य घरवालियाँ बड़ी सख्ती से गर्भ के आठवें मास तक भी अपनी मातहतों से पूरी मजूरी करवातीं, भागूबाई तीसरे-चौथे से ही लड़की को अवकाश दे देती । इस सुविधा के कारण भागूबाई का कुनबा बहुत बड़ा था ।

अन्ना स्वामी की चाल देखकर ही भागूबाई ताड़ गई, आज भोटे में है । दस-पंद्रह से ऊपर ही खटाएगा !

“भागूबाई !”

“आ न, रे !” भागूबाई ने अमरित घोल दिया ।

भागूबाई ने गंगा-जमुना-सरस्वती-सी अपनी तीनों बेटियों की ओर इशारा किया—भागूबाई की चाँदी की अंगूठी, जिसके नगीने में पिछली भादों की अमावस्या को पाँच पीर के एक साईं ने हनूमंत का जाप भरके दिया था, गंगा-जमुना-सरस्वती की छाया के स्पर्श से

चमकती रही, अन्ना स्वामी देखता रहा....

“बस ?”

“ठैर न, रे ?” अन्ना स्वामी को बैरंग होते देख, भागूबाई ने अंदर की ओर इशारा किया—“वो देख !”

स्वामी ने देखा और अंदर चला गया....

“काय ग, बाई ?” विट्ठल पाँचवीं सीढ़ी पर दूसरा कदम रखते हुए बोला—“कसी काय तुमची तबीयत आहे ? शांता कुठे आहे ?”

“आज तू कहीं और जा न, रे !” भागू बोली—“शांता ज्वल ग्राहीक बसलेला आहे ।”

विट्ठल अद्धा चढ़ाए था, सो सुध-बुध भी आधी ही रह गई थी ।

बोला, “बंगू, कोण आहे साला ! शपथ पांडुरंगाची....”, पर इसके आगे के बोल उसके दारू की लार, भरी जिह्वा में ही लोप हो गए । सामने अन्ना स्वामी बिजली की लाईट में भी अंधकार बढ़ा रहा था....

“काय रे, विठ्ठुवा ?” स्वामी बोला—“तुमेरे कूँ तो साला हम दादा की जमानत का बन्दोवस्त का वास्ते पैसा दिया था ? क्या, साला, हलकट !”

दादा यदि मुँगरापाड़ा का जमादार-सूबेदार है, तो स्वामी भी लैसनायक-हौलदार से कुछ कम नहीं—विट्ठल इस तथ्य से परिचित था, पर इस समय भुक्ने से खतरा था ।

बोला—“क्या स्वामी, तुम तो प्यारे, यों ही खफा हो जाता है ! पांडुरंगाची शपथ...अपन तो, यार, प्यारे !...इधर तुम रहा, हम रहा...दोनों भाई-भाई...दोनों एक-सा...कईसा क्या ?”

स्वामी जानता है, दरअसल दोनों एक, दोनों भाई-भाई ! एक नग, तो दूसरा ठग ! एक अपनी बहन का सौदा कर जश्न मनाने

आया, तो दूसरा अपने ईमान का । पर, 'हमारे लोगों का क्या ईमान, क्या धर्म ?' स्वामी के मन में प्रश्न उठा । फुटपाली पर पैदा हुए, फुटपाली पर मर जाएँगे । जिंदगी के दोनों छोर फुटपाली की दाँई-बाँई दो बाँहों में बाजूबन्द-से पड़े हैं ।

फुटपाली के बादशाह—और ईमान, धरम ?

जिनके माँ-बाप ने ईमान-धरम न देखा, अपनी सदियाँ काटने के बहाने, उन्हें भी फुटपाली की बाँहों में सौंप दिया । जिनके लिए, समाज ने अपना ईमान-धरम न देखा, ईमानदारी से दो रोटियाँ ये कमाकर खा सकें—ऐसी गुंजाइश ही न छोड़ी !... जिन्होंने अपनी माँ से बचपन में दूध-रोटी तब पाई, जब उसने बिल्डिंगों के वाचमैनो और म्यूनिसिपैलिटी के जमादारों से अपनी इज्जत-आबरू का सौदा किया !... जिन्हें बड़ा होने पर अपनी बिगड़ी आदतों की पूर्ति के लिए अपने हाथों अपनी बहनों की खरीद-फरोख्त करनी पड़ी—उनके लिए ईमान, धरम ?

उनके लिए ईमान-धरम क्या—जिनके आगे जिंदा रहने की शर्त ही यही है, कि बेईमानी करें, पाप कर्म करें और समाज की रगों में नाली के कीड़ों की तरह रेंगते रहें !...

कौन चाहता है नाली के कीड़ों की तरह जीना ?

कोई नहीं चाहता !

कोई नहीं चाहता !!

कोई नहीं चाहता !!!

—और चूँकि नाली के कीड़ों की तरह जीना किसी को भी पसन्द नहीं, पर उसी तरह जीने की मजबूरियाँ आगे हैं, तो केवल एक ही रास्ता रह जाता है—बुरे कर्म करना और दारू-चरस पीना; खीसे

काटने से लेकर गले काटने तक की नृशंसता रखना—जेल में ज्वार-बाजरे की रोटियाँ, तो बाहर बिरयानी से नीचे बात नहीं करना ।

जीना नाली के कीड़ों की तरह—पर हकीकत को नजरन्दाज करने के लिए दारू, चरस और...औरत...बस, यह औरत है जिसकी गोद में उन्हें कुछ प्यार, कुछ दुलार मिल जाता है ।

औरत माँ जो है !

औरत बहन जो है !!

औरत...औरत जो है !!!

औरत की याद आने पर, विवेक-तुरंग की रास हाथों से छूट जाती है ।

स्वामी की नशीली आँखों में अभी भी तूर का आँसू-भीगा गुलाबी दुपट्टा पड़ा था । गुलाबी शराब—गुलाबी दुपट्टा—स्वामी का मन भी गुलाबी-कली-सा चटकने लगा—“अच्छा, रे विठुवा, एक बात सुन !”

और उस एक बात को सुनाने के लिए, स्वामी विठुवा को बनारसी पानवाले की बगल तक ले आया ।

खाँस-खखारकर बोला—“क्या, विठुवा ! ईमान-धरम अपन लोगों का क्या, रे ?”

जवाब में विठुल, आँखों-ही-आँखों में, कह गया—हाँ, उस्ताद, जिंदगी यों ही बहुत भारी है, मन-भर के पत्थरों के चबूतर-सी । ईमान-धरम का बोझ-लादे फिरे तो साँस लेनी मुश्किल हो जाए ।

“क्यों, रे !” तीर नशाने पर लगा देख, स्वामी हँस दिया—“तेरी बाई ‘चारा’ नहीं चुगती है क्या ? हमारे को मुँगरापाड़ा में

बरसों होने को आया. अभी, कभी दुपट्टा हिलाते-सरकाते नहीं देखा उसकूं !....”

“मजबूत नवरा^१ मिल गया है, स्वामी !” दादा के विशाल शरीर को आँखों में उतारकर, बिट्ठल बोला—“नहीं तो ‘चारा’ चुगना क्या, औरत को जरूरत हो, तो खुद पंछी को जाल बिछाती है !”

“सो तो ठीक है, रे !” स्वामी बोला ।

“क्यों, वस्ताद,” एक आँख मंदराचल का गुफा बनाकर बिट्ठल बोला—“हमारा बाई का ऊपर आशिक-वाशिक ती नहीं हो गया ?”

‘ही-ही-ही’...करके, अपने मजबूत हाथों से स्वामी ने बिट्ठल के पुट्टे झकझोर दिए । बिट्ठल ने ताड़ लिया वजन से कि दादा से पावली कम ही है । दादा की थाप से उसे पाँच पीर, दोटाकी दिखते हैं । फिर भी स्वामी को बोला, “वस्ताद....” और रुक गया ।

उसके मन की तहों में, भय की रुई में लिपटा रहस्य का काँच-फूटने को ही था । दादा चौकी में बन्द है, उसके बारे में एक लंबा राज बिट्ठल के मन की गोदरेज-तिजोरी में बन्द है । दादा के भय का टम्बलर ताला उस पर पड़ा है—लेकिन रहस्य की यह बात उसके, स्वामी के क्षुधित-तृषित और भय-कंपित मन-कुविंदों के लिए गन्ने का खेत है...

“वस्ताद !” बिट्ठल बोला—“तुमेरा काम फतह हो सकता है !”

“कईसे ?” स्वामी ने उसे आँखों में बिठाकर पूछा—“कईसे, रे बिठुवा ?”

“दादा अभी दो-तीन बरस के लिए काम से गया !” विट्ठल ने घोषणा कर दी ।

“अईसा ! कईसे ?” स्वामी ने जिज्ञासा की ।

“तुमेरे को मालूम नहीं ? दादा का चार दाखला है—एक खून का, दो दारू का, घरफोड़ी का...अबके तड़ी-पार हुआ समझो !” विट्ठल बोला—“हमेरे सामनेच इंस्पेक्टर बोला था—‘साला जालीम माणूस आहे ! दाखले-वाखले काय तरी असेल त्याचे । सालेला जमानतावर पण सोडायचा नाही !’...समझा क्या ? और वो बाई—दादा था, तो खूंखार शेरनी थी, दादा तड़ी-पार हो जाएगा, ...गऊ हो जाएगी !”

“सच्ची क्या, रे ?”

“पांडुरंगाची शपथ !”

रत्ती-भर ही सही,

भागूबाई की सीढ़ियों का दिल कराह उठा था—

क्योंकि,

आज से तीन बरस पहले, जिसके मुलायम चाँव उनका आँचल गुदगुदा जाते थे—

उसका नाम भी नूर था !

तेरह

नूर की जब आँख खुली, उदयाचल के कपोल कनेरी रंगत में रंगे ही थे । मुहल्ले की मुर्गियों के नवरों ने अपनी ठकुरानियों को अनपूरे सपनों से जगाकर, घास-फूस की पूलियों पर अंडे रखवा लिए थे—कुकड़ू-कूं, कुकड़ू कू, कुंकड़ू-कूं !

मुर्गा मुसलमानों का ब्राह्मण है !...

नूर ने बिस्तर पर बैठे-बैठे ही बाहर की ओर नज़र की, तो—
ठाकुर की खाट खाली पड़ी थी !

° ° °

जब सारी दुनिया के लिए भोर होती है—

राजा भरत की उन माँ-बहनों के घर साँझ होती है, जो सूरज की पहली किरन के साथ, मुक्ति की साँस लेकर विक्षत-विवसना अपनी गंदी खाटों पर, दीन-दुनिया की सुध बिसराकर, सो जाती

हैं—जैसे घायल पंछी साँभ भए अपने नीड़ के तिनकों का तकिया-बिस्तरा बनाए, सो जाता है, घायल पंखों को चन्द्रमा की किरनों से दुलारता हुआ...

भोर के पंछी पर पसारे उड़े जा रहे थे,

किन्तु,

विवसना विहंग-बालाएँ अपने-अपने नीड़ों में विसुध पड़ी थीं।

शांता की अंगिया में दो का नोट खोंसकर, स्वामी भी बाहर आ गया। विट्ठल बाहर बैठे, भागूबाई का दिया हुआ कालाकांडी, पीला पत्ता पान चबा रहा था।

“चल रे, विठुवा !”

“चलो, वस्ताद !”

‘न्यू यजदानी स्टोर एण्ड रेस्तोरेंट’ में दोनों चाय पीने गए। स्वामी ने दो मस्काब्रून और दो ‘दो नम्बर’ चाय लाने का आर्डर दिया।

“दोन मस्काब्रून, दोन पेसल !” चिल्लाकर, जब आर्डरवाला टेबुल के पास से हट गया, तो स्वामी ने मिट्ठी लगाकर पूछा—
“क्या, रे विठुवा ! तूने कभी मस्का नहीं लगाया उस कूँ ?”

“किसकूँ, वस्ताद ?” मस्काब्रून चाय में भिगोकर, गले में उतारते हुए, उसी ट्यून में विट्ठल बोला।

“अपने वस्ताद की कबूतरी को !...ही-ही !”

“वस्ताद, दादा के रहते उसकूँ मस्का तो क्या हवा लगाना भी जिन्दगी के लिए खतरा मोल लेना था ! पांडुरंगाची शपथ,” विट्ठल बोला—“आई शपथ, लेकिन अब जरा रास्ता साफ हो जाएगा, फिर देखूंगा। बाई लोग को रास्ते चलाते क्या टाइम लगता है ?...”

“मँगरापाड़ा में ऐसा हुसनदार दूसरा कोई भी होईगा नहीं ।”
स्वामी ने विट्ठल का हाथ दबा दिया ।

“अरे, वस्ताद, वह काश्मीर का छोकरी है । क्या, काश्मीर का औरत हुसनदार और खूबसूरतच होता है……”

चाय की आखिरी घूंट लेकर, पत्तियाँ थूकते हुए, स्वामी ने तीखे किन्तु धीमे स्वर में पूछा—“वह जो नवीन मारगूस आया है, तू कहता था, दादा का भाऊ है !……”

‘वह भी राह का रोड़ा है,’ यह कहने के लिए स्वामी ने हथेलियों को आपस में रगड़कर, एक अँगुली चटका दी ।

“काहे का, भाऊ, वस्ताद ?” विट्ठल हँस दिया—“हम भी, आई शपथ, एकच जासूस है । कालीना जाते समय दादा को पूछा था, ‘दादा तुमेरे सूरत से तो उसका सूरत मिलता नहीं ?’ क्या, दादा बोला, ‘सगा भाई नहीं है’……हमेरे को पूछो, सगा क्या, भूठा भाई भी नहीं है ! अरे, वस्ताद, वह तो हिन्दू है, हिन्दू !……”

“अईसा !”

“और बेटा उड़ता पंछी है !” दो अँगुलियों को कैंची की तरह चलाते हुए विट्ठल बोला—“पर, गाधला^१ है । हम भी एकच जासूस है ! क्या, मिनटों में पर कुतर के रख देंगा !……”

“रफा-दफा तो करना ही पड़िगा !” स्वामी बोला ।

“उसको तो, वस्ताद,” विट्ठल बोला—“हम मिनटों में पक्कर कर देंगा । हमारा स्कीम सुनो……”

और विट्ठल का मुँह स्वामी के कान के निकट पहुँच गया ।

सामने 'श्रीकृष्णपुरी हाउस' के भेल के गल्ले के ऊपर कन्हैया की बाँसुरी बेसुरी हो गई थी—

आज से तीन-सवा तीन वर्ष पूर्व किसी राह चलती लड़की ने 'नमो भगवते वासुदेवाय' कहकर, उन्हें नमस्कार किया था !

०

०

०

नूर की बरौनियों में शबनम की मुक्ताएँ, हाट-बाजार आई ग्राम-बालाओं-सी, जुट आई थीं, जिनकी हर साँस एक नई पीर हवा को सौंप जाती है ।

ठाकुर की खाट सद्यः विधवा की माँग-सी रोती पड़ी थी ।

ठाकुर चले गए ?

क्यों चले गए ?

प्रश्न के साथ ही, पुरवैया की कुंवारी हिलोर नूर का गुलाबी दुपट्टा सरका-सुखा गई—

कि ठाकुर नहीं गए !...

ठाकुर आम्र-वृक्ष की टहनी पकड़े विचारों की दुनिया में खोया, चुपचाप खड़ा था । कुछ कहने को नूर का मन उतावला हुआ तो सही, पर लाज-मारी अंदर लौट गई । दादा का ख्याल उसे सता रहा था । इस व्यक्ति से उसे प्रेम न सही—उसके प्रति श्रद्धा तो है, आत्मीयता तो है । इसलिए कि वह बाहर से दानव होते हुए भी, नूर के लिए देवता था...

जब से भागूबाई के यहाँ से नूर को दादा लाया था, यों रखता था जैसे नूर उसकी जिंदगी की आखिरी मंजिल, आखिरी ख्वाहिश हो । नूर आई, दादा के बड़े पैमाने पर होनेवाले गुनाहों का अन्त हो गया । दारू वह अब भी बेचता था, पाकिटमारी अब भी कभी-

कभी करता था—और केवल इसलिए करता था, कि इसके सिवाय उसके आगे और कोई साधन-स्रोत न था। दो रोटियाँ नूर को, दो उसे—इतना तो चाहिए ही !...

नूर दादा को इसी नाते श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। वह बदमाश था, जुआरी-शराबी था, चोर था और खूँखार था—पर उसके पहलू में जो दिल था, वह बदमाश का होते हुए भी शरीफ, चोर का होते हुए भी ईमानदार और खूँखार भेड़िए का होते हुए भी कोमल था !...

दादा—इन्सान पहले था, हैवान बाद में।

इसी नाते नूर का वह देवता था—इन्सान नहीं, हैवान नहीं।

०

०

०

नूर ताने-बाने बुनती रही।

आखिर दादा को किस तरह छुड़ाया जाए ? कुछ कहने को उसका मन हुआ और दुपट्टा ठीक कर वह बाहर चली आई।

ठाकुर ने आम की टहनी न छोड़ी थी।

‘सुनिए तो’, नूर ने कहना तो चाहा, पर कह न सकी।

मन में सोचा—पहले चाय बना लूँ, तो इसी बहाने और अच्छे ढँग से बातें हो सकेंगी। वह जानती थी, दादा के पकड़े जाने से ठाकुर दुःखी है। उसे वीरेन का निर्मल व्यक्तित्व और मधुर व्यवहार भाने लगा था। दूसरे, वह उसके मायके, नैनीताल-अल्मोड़ा का था। और कुमाऊँ की यह मशहूर कहावत है कि मायके का तो कुत्ता भी प्यारा होता है।

फिर वीरेन तो इन्सान था। इन्सान भी थोड़ा-सा, लेकिन शहद-सा मीठा बोलनेवाला। शरीर से वह विन्सर के सेव-नासपाती-सा

स्वस्थ, बुर्रूशी के फूल-सा खूबसूरत था, पर मन से मुरझाए गुलाब, भुलसे टेसू-सा । दुःख की चिरन्तन छाया जैसे उसकी मन-मयूरी के पंख अवसाद की कैची से कुतरते रहती थी ।

नूर जब भी उसके आगे जाती, अतरात्मा की काल-कोठरी में बलात् बंदी बनाई गई रेवा जोर-जोर से संभ्रम-शंका की लौह-सांकल पर संवेदना, सहानुभूति और एक अलक्ष लगाव की रेती चलाने लगती । तब नूर को लगता, रेवा ने सांकल अब तोड़ी, अब तोड़ी... पर, आज तक तो यह सांकल रेवा से टूटी न थी ! जैसे वह अब भी डरती है, जैसे वह दूध-जली अब भी ठंडी छाँछ को फूँकती है... और जैसे उसके हाथ खुद कमजोर पड़ जाते हैं, विश्वास-भावना की रेती हाथों से गिर पड़ती है । बस, अधटूटी सांकल थामे खड़ी रह जाती है...

चाय बनाते-बनाते नूर की आँखों में अतीत की धुंधली छायाएँ तिर गई । उसे याद है, जब वह भागूबाई के यहाँ थी, दादा ने पूछा था—“तुम इतनी मासूम, इतनी अच्छी लड़की हो, किसी अच्छे आदमी से शादी कर लो ? यहाँ तो तुम्हारी जिंदगी बरबाद हो जाएगी !” उसने कहा था, “अच्छा तो दूर, कोई बुरा भी नहीं मिलता, जिसमें हजार ऐब हों, हजार बुराइयाँ हों—पर, मुझे इस दोजख से निकाल ले । इज्जत और आबरू की दो रोटियाँ, तन ढँकने-भर को कपड़ा दे—बस, मुझे फिर चाहे वह लाख सताए, लाख दुःख दे...”

दादा ने उसे बाँहों में भर लिया था । कहा था—“जो तुझ जैसी मासूम बीबी पाकर भी बुराइयों का दामन न छोड़ सके, उससे ज्यादा कमनसीब और कौन होगा ? इधर देख, मेरी ओर । मुझे अपना शौहर कबूल कर सकेगी ?”

वह कुछ जवाब न दे पाई, तो बोला था—“दरअसल मैं बहुत

बुरा हूँ। तुमसे उम्र में भी ज्यादा हूँ, सूरत-शक्ल भी अच्छी नहीं मेरी...पर, तुम पाओगी, दिल मेरा इतना बुरा नहीं है, जितना मैं बाहर से दिखता हूँ। तुम्हारी मासूमी का पाक साया मेरे गुनाहों को नेस्त-नाबूद कर देगा, ऐसी उम्मीद है मुझे...फिर अगर मेरी जिंदगी में आने के बाद भी, तुम्हें कोई ज्यादा माकूल आदमी मिल सके, तो मैं रोकूंगा नहीं तुम्हें। तुम्हें हक रहेगा, जिसे तुम्हारा दिल चाहे, उसकी जिंदगी आबाद करो। वहाँ तुम मुहब्बत के जरिए जाओ, महज रोटी-कपड़ा ढूँढने या सहारा पाने नहीं!...”

“मुझे आपकी बातें मंजूर है,” रेवा इतना ही कह सकी थी।

“हो तो तुम मुसलमान ही न?” दादा पूछ बैठा था।

“हाँ, हूँ तो!” रेवा ने कह दिया था, कृत-संकल्प होकर। भागूबाई को उसने अपना नाम नूर ही बताया था। न-जाने ब्राह्मण-कन्या रेवा को वेश्या-वृत्ति से वह क्यों दूर रखना चाहती थी? रेवा के संस्कारों का, उसकी अनुभूतियों का मूल्य नूर समझती थी। वह नूर बनी थी, रेवा की लाज ढँके रहने को। यह आत्म-प्रवंचना न थी। मन के मोती को अकलुष रखने के लिए, कीचड़ में गिरते समय, उसने शरीर को केवल सीप-जितना महत्त्व दिया था।

नूर शरीर थी—मन रेवा था।

शरीर अपवित्र होता ही नहीं, वह तो एक पात्र है, मँज-धुलकर फिर वैसा ही बन जाता है, पुराना पड़ जाय यह बात दूसरी है। पर, मन तो जहाँ अपवित्र हुआ नहीं, फिर लाख गंगा-स्नान कराओ उसे, उज्ज्वल नहीं हो पाता। डाल से जमीन पर गिरे आम में जो दाग पड़ जाते हैं, उनमें रंगत नहीं भरी जा सकती। पकाने की कोशिश की जाए, तो पूरा आम ही सड़ जाता है। पवित्रता की

डाल से गिरकर मन का आम भी अमृतफल नहीं रह पाता ।

पवित्रता से नूर का तात्पर्य यह न था, कि शरीर बेचकर भी मन को अविक्रीत रखे रहे, उसके दंभ में यातनाएँ सहे, पर उसे किन्हीं प्यार-भरे हाथों को ही सौंपे, पैसे के स्वार्थी, कामना के विष-बुभे हाथों को नहीं—इतना वह चाहती थी ।

इस दृष्टि से नूर सदैव पराजित रहकर भी रेवा को अविजिता बनाए रही ।

पूरे चार वर्षों से नूर रेवा को अंतर के ऐसे कोने में सहेजे रही है, कि कोई उसे स्पर्श भी नहीं कर पाता । रेवा की पवित्रता के लिए, नूर ने अपनी आकांक्षाओं का गला घोंटा है । दादा को भी उसने कभी रेवा का घूँघट न उठाने दिया—नूर ने दादा के चरण दाबे, पर दादा रेवा की चरण-छाया भी कभी न छू सका ।

भोंपड़ी की पिछली क्यारी में नूर ने जो तुलसी-वृक्ष लगाया था—उसे भी केवल नीहार-धुली पुरबैया, मलय-गंध-सनी प्रतीची की कुआँरी हिलोर ही छू पाती थी । अपनी किरणों से किशोरियों का मन-कमल खिलानेवाले रसिया भुवन भास्कर भी उसे केवल बाल्यावस्था में ही छू पाते थे, भास्कर ने किशोर होते-न-होते तुलसी आन्व-सिंदूर-बिंदिया अवगुण्ठता हो जाती, नूर के हाथों । तरुण र के हाथ केवल उसकी चरण-रज ही छू पाते ।

भगवान् भास्कर जानते हैं, नूर माद्री है ।

माद्री—पुत्र जिसे अश्विनी-कुमारों से प्राप्त हुए, पर सती पांडु के ही साथ हुई ।

सो वृद्ध होते-होते भगवान् भास्कर नूर को तुलसी के प्रति सश्रद्ध हो जाते हैं, और अपने वात्सल्य-लदे, वार्धक्य-काँपते कर तुलसी के

शीश पर धर देते हैं, न-जाने क्या आशोर्वाद देते हैं !...और साँभ को नूर तुलसी को अनावृता कर देती है...

भगवान् भास्कर उसे वक्ष से लगा लेते हैं—

तुलसी करुणा-गीली हो जाती है—“पितृ !”

“वत्से !”

और भगवान् भास्कर की निम्तेज आँखों में लगा चश्मा आँसुओं से धुल-धुल जाता है ।

शायद, इसीलिए भास्कर प्रति-प्रातः पवित्र-गात ही उदय होते हैं !....

चपल बाल-रवि ने कल जाते-जाते तुलसी को रुष्ट कर दिया था, सो आज उसके चरण छू क्षमा-याचना कर रहा था ।

नूर चाय लेकर बाहर आई तो देखा, ठाकुर पिछली क्यारी के पास खड़े हैं, और उनके हाथ में तुलसी-पत्र पड़ा है । वह चौंक उठी । बोली—“वह पौधा....”

“मैंने एक पात तोड़ लिया, माफी चाहता हूँ !” वीरेन आगे बढ़ आया था । तुलसी-पत्र को हथेली में उलटा-पुलटाकर, नूर की ओर देखकर बोला—“इस पौधे को आप शायद नहीं पहचानतीं ? यह तुलसी का पौधा है । हिन्दू कन्याएँ, औरतें इसे बड़ी लगन के साथ पूजती हैं । इसे बहुत पाक समझा जाता है । आपने स्वयं इसे लगाया है ?”

नूर निचली, पर सँभल गई । बोली—“मैं तो उस पौधे के बारे में बात कर रही थी, उस हजारी के फूल के पौधे के बारे में... आपने क्या बताया इसे ?”

“तुलसी !”

“हाँ, तो, यह तो वैसे ही कहीं से जम गया होगा।”

“पर, तुलसी यों ही नहीं जम जाती !...इसे लगता है, बहुत सँभाल-सहेजकर रखा गया है । आपकी कुछ बातों से कभी-कभी ऐसा लगता है...”

“चाय ठण्डी हो रही है,” नूर का स्वर बदल चला था—“और देखिए, आप मेरे बारे में इतनी जल्दी न इतना सोचें, न इतनी बातें करें । दादा बड़ी गुस्सेल आदत के हैं । उन्हें बुरा लगेगा ।”

वीरेन सकपकाया-सा खड़ा रह गया ;

मन तो हुआ, पूछे कि ‘अपनी बात कहिए, क्या आपको भी बुरा लगता है ?’ पर पूछे किस मुँह से ? उसके मुँह पर तो जैसे वह थप्पड़ मार गई थी । यों उसके मुँह पर थप्पड़ पड़ता, तो अँगुलियों के साँचे भर जाते, पर यह थप्पड़ तो उसकी भावना के मुँह पर था, उसकी अनुभूतियों के मुँह पर था !...

गलती उसकी थी । सीमोलंघन करने पर प्रत्याघात तो मिलता ही है ? वीरेन ने संकल्प कर लिया, ऐसी त्रुटि न करेगा भविष्य में । पर, मन में शंका का जो अंकुर फूटा था, इस आँधी में वह नष्ट न हो कर, एक विशाल वृक्ष बन गया था—

आखिर यह अप्रत्याशित परिवर्तन क्यों ?

वह भी तुलसी को लेकर...

नूर और तुलसी...तुलसी और नूर...नूर और दादा, दादा और...

जब बवंडर उठता है, धुंध इतना छा जाता है, कुछ सूझता नहीं । अंतर्द्वन्द्व का बवंडर उठकर वीरेन की आँखों में धुंध-सा छा गया था । कुछ इस तरह कि आँखों के आगे कुछ है—पर क्या है,

यह दृष्टि-बोध से परे है ।

उसने चाय की दो घूंटें लीं, ठण्डी-मीठी थीं ।

वीरेन का उफान ठंडा पड़ गया । चाय बड़ी मीठी बनी थी ।

वीरेन सोचता रहा—कौन-सी चीज है, जो मिठास में कुनैन घोल जाती है ? सोचने-समझने का प्रयत्न करते, उसने तुलसी-पत्र को अपनी टोपी के किनारे रख लिया ।

०

०

०

नूर अंदर तो चली आई, पर मन जैसे बाहर ही रह गया । जो-कुछ कहा, ग्लानि से मन भारी हो गया । नूर को लगा, ठाकुर को उस पर शक है ! होना स्वाभाविक है । तुलसी कहीं भी उगे, वह तुलसी है । नूर कहीं भी रहे, वह रेवा है । अपने घर पर सोलह वर्षों में जो संस्कार पाए, उन्हें खोने के लिए चार वर्ष बहुत थोड़े हैं, नहीं के बराबर हैं...इसीलिए तो...

इसीलिए तो सुबह उठते-उठते जहाँ दादा के मुँह से 'या खुदा, या अल्लाह !' निकलता है, उसके हाथ भी वन्दना से बँध जाते हैं, श्रद्धा की डोरी से लिपटकर—

‘ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय...’

आँसुओं का बोझ न सँभाला गया पलकों की मजूरिनों से, तो नूर भोंपड़ी के एक अछूते-से कोने में जाकर, किसी को वक्ष से लगाकर, रो पड़ी ।

नटखट बनवारी को लगा, यशोदा ने उन्हें मक्खन चुराने की सजा के बन्धन से मुक्त कर, अपने वक्ष से लगा लिया है । राधा जो दही का मटका फोड़ने से रूठ गई थी, कदम्ब-डार पर झूलना डाले, उन्हें अपनी मलबँहिया झुला गई है ।

आँसुओं के अमृत से धुलकर, कान्हा की अमृत-वर्षिणी, भुवन-मोहिनी वंशी के मौन-रंध्रों के सोए प्राण जाग उठे—युग-युग से गूंगी वंशी के स्वर गूँज उठे—और महाभारत के स्रष्टा ने देखा, सुना—धृतराष्ट्र की भरी सभा में विवसना-सी द्रौपदी भुजाएँ आकाश की ओर उठाए, नयनाकाश में नीर-भरी बदलियाँ छुपाये उन्हें पुकार रही है—

“कृष्ण !”

और वासुदेव न पट-पीताम्बर सँभाल पाए, न बाँसुरी, चिल्ला उठे—“आया, कृष्णो !”...

आँसू थमे, तो नूर ने देखा, उसके आराध्य वासुदेव की मूर्ति तो न-जाने कब जमीन में गिर गई है, आँचल से । उसने कान्हा का धूल-सना आनन अपने गुलाबी दुपट्टे से साफ किया, फिर यथा-स्थान प्रतिष्ठित कर, हाथ जोड़ दिए—“नमो भगवने वासुदेवाय !...”

और उसके अन्तस् में एक गूँज प्रतिध्वनित हो गई—

“आया, कृष्णो !”...

नूर ने आज प्रथम बार रेवा के बंदी-गृह के द्वार खोल । वह बंदिनी मरणासन्न-सी उस काल-कोठरी में पड़ी थी । कैद अंततः कैद है ! पर-कटी विहग-बाला-सी वह छटपटा उठी, जैसे अनन्त आकाश में पर पसारे सदा के लिए उड़ जाना चाहती हो—पर, पर कहाँ ? नूर ने कभी के कुतर जो दिए !...

नूर को अपने ऊपर क्रोध आया, रेवा पर दया आई । उसने रेवा को कसकर छाती से लगा लिया । रेवा चीख उठी—‘दूर हो, दूर हो, पाषाणो !’ नूर दुःख से कातर हो गई—‘क्यों ?’ रेवा सिसक-सिसक कर बोली—‘तुम आखिर कब तक मुझे यों कैद की काल-कोठरी

में तरसाती रहोगी ? निष्ठुरे, कैदियों को समय-समय पर खाने को भोजन, पीने को जल तो मिलता है ? तुमने तो मुझे हवा के स्पर्श से भी वंचित रखा है...मैं यहाँ घुट-घुटकर मर न जाऊँगी ?'

'जिस दिन तुम मर जाओगो, उसी दिन मैं भी तो मर जाऊँगी, पगली ! तू कुछ भी कहे, मैं तुझे प्यार करती हूँ। तुझ पर मुझे श्रद्धा है, क्योंकि मैं कलंकिनी हूँ, तू पवित्र है। इसीलिए तुझे कुपात्र के हाथों में सौंपते दुःख होता है।'

'ढोंग है सब ! आखिर यह छलना, यह आत्म-प्रवंचना कब तक चलेगी ? मुझ पर अत्याचार कब तक होता रहेगा ? मेरी साँस-साँस पर तुम्हारी लौह-साँकल कब तक पड़ी रहेगी ?'

'केवल तब तक, जब तक कोई तेरे योग्य पात्र मुझे नहीं मिल जाता !'

'भूठ बोलती है, धोखा देती है तू मुझे ! मेरे योग्य पात्र द्वार पर मेरे लिए बाँहें फैलाए खड़ा है, तू शंका और कुंठा के वशीभूत होकर, उसे मुझसे दूर कर देना चाहती है !...दूर कर रही है !...बोल, पाषाणो, क्या यह भूठ है ?...बोल, क्या यह भूठ है ?...'

यह सच है, तू को ऐसा लगा । पर, दूसरे ही क्षण अंतर में प्रश्न उठा—'यह क्यों भूलती है, जिसने एक दिन तेरा सर्वस्व छीन कर तुझे नर्क में ढकेल दिया था, वह भी ऐसा ही था । वह भी खूबसूरत था, मीठा बोलनेवाला था !...'

'यह वैसा नहीं है, यह वह नहीं है । मैं इसे प्यार करती हूँ । इसे चाहती हूँ...'

'मैं इसे परखना चाहती हूँ । दूध का जला छाछ को फूँककर ही पीता है ! साँप से बचा, रस्सी से भी शंकित होता ही है !'

‘तू मूर्ख है फूँकते-परखते कहीं पात्र ही उलटा कर बैठी तो ? कहीं रस्सी को ही साँप समझकर, शंका की शूली पर अपने-मेरे प्राण लटका न देना ?’...

नूर को अनुभव हुआ, यह सच है। आश्चर्य भी कि जो निर्णय वह तीन वर्षों में नहीं कर सकी, बंदिनी रेवा ने उसे तीन दिन में कर लिया!!...नूर न्यायाधीश है, मन बंदी है!...नूर मस्तिष्क है, मन रेवा है! मस्तिष्क जिसे लंबी अवधि तक उलझाए रह जाता है, मन कुछ क्षणों में ही उसका फैसला कर लेना चाहता है, जानता है... न्यायाधीश की अपेक्षा निर्णय के प्रति आकुलता बंदी को ही रहती है...और वैसे भी मन के मामले में सदैव मस्तिष्क को ही न्यायाधीश बनाना ठीक नहीं, मस्तिष्क बिचार-भर करता है—वह विचारकर्ता है, मन भोक्ता है...भोक्ता की व्याधि वह क्या समझे ?

मन-मस्तिष्क में सास-बहू का संबंध है।

नूर को मन की उतावली पर, अधीरता पर खीझ हो आई, आखिर कुछ ही क्षणों में इतनी बड़ी बात सोच लेना ठीक तो नहीं। फिर उसे याद आया, दादा को अपना शरीर सौंपते ही कहाँ उसने बरस-दो बरस लगाए थे ?

जिसे हम जीवन का सबसे बड़ा सवाल समझते हैं, कभी-कभी उसी का निपटारा क्षणों की वेदी पर कर देना पड़ता है, यही तो विधि की विडंबना है।

नूर सोचने लगी, कहाँ वह अब अक्षत-यौवना ब्राह्मण-कन्या है, जो समर्पिता होते, बहुत आगे-पीछे देखना पड़ेगा, सोचना पड़ेगा ? नारी को पुरुष को आत्म-समर्पण करना ही पड़ता है—समर्पण की क्रिया में हेर-फेर हो सकता है, विधान में अंतर हो सकता है। फिर

जो कभी वेश्या रह चुकी हो—उसके आगे समर्पण करते शुचिता या द्विविधा का प्रश्न कैसा ? जूठा एक का खाया, दस का...जूठा तो खाया । सत्य तो यही है...फिर व्यर्थ की आत्म-प्रवंचना ही क्यों ?...
इतना विद्रोह कब से पनपता रहा न-जाने हृदय में ?

०

०

०

फिर ख्याल आया, कैसी बावली है !

ठाकुर ने मुंह-भर दो बोल भी कभी उससे नहीं कहे, एक वह है, कि न-जाने क्या-क्या सोच गई है ? यह उतावली तो ठीक नहीं । दिया जलाते आँचल न जले—इतना तो सोचना होगा ? फिर ठाकुर परदेशी अतिथि यहाँ है, उसे क्या मालूम उसे केन्द्र-बिन्दु बनाकर, नूर कितनी परिक्रमाएँ कर चुकी है !

क्या जाने कब ठाकुर चला जाए ?

इस प्रश्न ने नूर के माथे पर हथौड़ा-सा मार दिया । इस अपरिचित अतिथि के प्रति जो आकर्षण है उसे, वह एकदम स्वाभाविक है, जो विकर्षण था, वह भी स्वाभाविक था...पर कुछ प्रश्न थे, कुछ समस्याएँ थीं—कोई कदम उठाने से पूर्व इनका निदान आवश्यक था । क्या पता, ठाकुर क्या समझते हों, कैसी भावना से देखते हों ?... फिर जिस व्यक्ति के पाँव-तले की जमीन अपनी नहीं, वहाँ किसी और को आश्रय मिलने की संभावना कहाँ ?

आकाश में बादल घिरते देख, घर का पानी-भरा घड़ा फोड़ देना, मूर्खता न होगी ?...

जैसे दही के मथने से जो माखन निकलता है, वह दही-छाछ की अपेक्षा अधिक ठोस, अधिक शक्ति-संपन्न होता है, उसी प्रकार वादी-प्रतिवादी विचारों के मंथन से जो निर्णय मिलता है—वह भी

ठोस, व्यवहारिक होता है...नूर ने निश्चय कर लिया, वह ठाकुर के साथ न उछला व्यवहार ही करेगी, न चारों खाने चित्त ही जा पड़ेगी। उसे अपने को संतुलित रखना होगा। समय देखकर चलना होगा। समय के हाथों ही निर्णय होगा। वही निर्णय सर्वोपरि होगा—जीवन को वह किसी भी दिशा में ले जाए।

स्वस्थ-चित्त होते ही, नूर बाहर आई। ठाकुर पूर्ववत् उदास मन खाट पर बैठा था। नूर ने देखा—उसकी आँखों में वेदना की छाया घनीभूत हो गई थी। लगा, यह बच्चा या औरत होता, तो रो देता...पुरुष है, सो इस प्रबल ज्वार को पलकों की परिधि में बाँध सका है।

“मैं आपसे माफी माँगने आई हूँ।”

“आप...और माफी...किसलिए?” वीरेन ने वेदना का उद्दाम ज्वार अपनी काली-नीली पुतलियों में आत्मसात् कर लिया। आँसू पी जाने की इतनी सामर्थ्य पुरुष के पास होती है।

“जी, मैंने नाहक ही आपसे कुछ कड़वी बातें कह दीं, इसलिए...”

“आपने जो-कुछ कहा, कहना ही चाहिए था। मुझे अपनी औकात न भूलनी चाहिए। मैं सीमा लाँघ गया था। मुझे क्षमा कर दें आप।” कहते-कहते उसका कंठ-स्वर बोझिल हो गया। वीरेन जब-जब व्यथित होता है, उसके अन्दर का कवि जाग उठता है। वेदना ही वाणी की स्वामिनी, गीत की स्रष्टा है...

“आप मुझे गलत न समझें।” नूर विनीत स्वर में बोली—
“मेरी कुछ अपनी विवशताएँ हैं, अपनी सीमाएँ हैं, जिन पर मेरा वश नहीं। जिन्हें मैं लाँघ नहीं सकती...आप मझे...”

अब बीरेन से न रहा गया—“आपके प्रति मेरी कोई गलत धारणा नहीं। हाँ, जिज्ञासा है…जिज्ञासा है, इसलिए कि आपने कभी पहाड़ी में कुछ कहा था…इसलिए कि आप रोज प्रातःकाल भगवान् वासुदेव को नमस्कार करती हैं…इसलिए कि आप तुलसी पूजती हैं…इसलिए कि आप अजाने ही विशुद्ध हिंदी बोलने लग जाती हैं…आप आखिर मुझसे दुराव-छुपाव क्यों रखती हैं?…आप मुसलमान नहीं हैं, हिन्दू है—आप…”

‘ठाकुर…!’ तुर चीख उठी। उसकी आँखों से अश्रु-धारा फूट चली। वह दौड़कर अन्दर भाग गई और एक भटके के साथ किवाड़ बन्द कर लिए। उसकी मन-वीणा के सात के सात तार एक ही आरोह में झनझना उठे थे, उसके कवच को एक ही आघात छिन्न-भिन्न कर गया था…जिसे वह परखना चाहती थी, वह उसकी वचाव-पंक्ति कभी की लाँघ चुका। सत्य कभी-कभी आँधी की तरह सामने आता है—जीवन की जड़ों को बुरी तरह झकझोर जाता है…

तो ठाकुर जानते हैं, कि वह ब्राह्मणी होकर भी मुसलमान के घर वर्षों से रह रही है! रह हो नहीं रही, अपना सतीत्व-नारीत्व भी विधर्मी को सौंप चुकी!…

ठाकुर को घृणा न होगी उससे?

इस प्रश्न के मस्तिष्क में उठते ही वह जोर से चीख उठी—
“माँ…!”

जब पीड़ा असह्य हो जाती है, तो कातर जिह्वा भगवान् से पहले पुकारती है—

“माँ!”

ठाकुर ने अपने मुँह पर जोर से एक चपत मार ली।

वह नूर के मन की व्यथा को समझता है । गाँव में पूजा-पाठ की जिंदगी बितानेवाले पुरोहित को कभी यदि शहर आकर कसाई का जीवन बिताना पड़े...और कभी उसको छुरी चलाते कोई उसके ही गाँव का आदमी देख ले तो ?...तो उसे कितनी मर्मांतक पीड़ा होगी...कितना क्लेश होगा ?

पहाड़ की भोली कन्याएँ नियति के क्रूर-विधान में फँसकर, जब-कभी कहीं वेश्या बनने को मजबूर होती हैं, विधर्मी ईसाई, मुसलमानों की बीबियाँ बनने पर मजबूर होती हैं—तब उनके नयन-भर आँसु सागर की अगाधता के लिए चुनौती बन जाते हैं, मन-भर दुःख आकाश के नीलांचल-सा निस्सीम उनकी छुई-मुई-सी जिंदगी की दशों दिशाओं को ढँक लेता है...और आँचल-भर आकांक्षाएँ मुट्ठी-भर धूल-सी राह में बिखरकर आँसुओं से भोगकर, वहीं की वहीं रह जाती हैं—जहाँ से उन्हें पंख पसारे आनन्द के ब्रह्म-लोक की सीमाओं तक पहुँच जाना था ।

पहाड़ की मजबूर लड़कियाँ, परकटी विहंग-बालाएँ हैं । वे विधवा क्या होती हैं, जैसे गौ-हत्या कर बैठती हैं, पालने में पड़े दुधमुँहे शिशु का गला घोट देती हैं—वे केवल घृणा और लांछना की पात्र समझी जाती हैं । जिसने उन्हें विधवा किया, उसकी ओर कोई अंगुली भी नहीं उठाता, वे विधवा क्यों हों गई, यह गुस्तर अपराध माना जाता है...ऐसा पाप माना जाता है, जिसका प्रायश्चित भी न हो सके !

वह धुधुतिया त्योहार की पूरी हो जाती है, जिसे केवल कौए के लिए बनाया जाता है ।

देश के बहुरूपिये कौए पहाड़ के इस नृसंस धुधुतिया त्योहार

की पूरियों को उठा ले जाते हैं... कोई चूड़ियाँ बेचनेवाला बनकर जाता है, आते समय दो-चार सूनी कलाईवाली शैल-वधूटियों को फँसा लाता है, और काठगोदाम पहुँचते ही उन्हें रंग-बिरंगी चूड़ियाँ पहना देता है; फिर लखनऊ, मेरठ, दिल्ली या बनारस-बम्बई को 'सप्लाई' कर देता है...

कोई ज्योतिषी बनकर जाता है, और 'तेरे भाग में तो, बेटी सोने के महल हैं !' कहकर, उस उपेक्षिता बहू-बेटी को कलकत्ते की सोनागाछी पहुँचा देता है ।

कोई कुतुबमीनार का खेल दिखाने जाता है, तो दिल्ली के कुतुब-रोड को आबाद करने के लिए कुछ कबूतरियाँ उड़ा लाता है...

इन पार्वतियों की करुण जीवन-गाथा लिखनेवाले गजानन, कहनेवाले वेदव्यास अभी नहीं जन्मे...

वीरेन को यह रहस्य समझ में आ गया, कि क्यों अकारण ही तू उसे भिड़क देती थी । उसने तू की आँखों में जब भी, जितनी गहराई तक भी भाँका अपने लिए स्नेह छलकता पाया । वह पढ़ी-लिखी है, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था । उसके हिन्दू-संस्कार अभी न छूटे थे । वह कृष्ण की आराधना करती थी, तुलसी की पूजा करती थी—

वीरेन ने अन्दाज़ लगाया—वह ब्राह्मण-कन्या ही हो सकती है ।

मैना की पीडा को तोता ही समझ सकता है, गिद्ध नहीं । कबूतरी कबूतर से ही चोंच मिलाती है, बाज से नहीं । बटेर बटेर से ही भगड़ती है, कौए से नहीं ।

शैल-कन्या की पीडा कोई पहाड़ी ही समझ सकता है, जिसने जौल मुरली के रंघों में उनकी वेदना-विवशता के गीत जगाए हों;

जिसने बुरूशी के फूल की लाली, चमेली के फूल की महक देखी हो; जिसने जागेश्वर-विन्सर की उपत्यकाओं में गमकते हुड़के, भ्रमकते भोड़े सुने हों...जिसने दूध-जैसी मुसकान के सलमे-सितारों से कढ़ा साटन का पिछौड़ा देखा हो, और गंगाजल-से आँसुओं से भीगा सात पाट का काला घाघरा...जिसने धौलछीने के होंठ चूमकर लौटती हुई हवा में लहरते रेशम के फुन्नों को देखा हो, कमलनाल-सी बाँहें, शुक-सी नासिका देखी हो, जो तुषार के दिनों में ठिठुरकर लाल हो जाती है...जिसने धूप-सी हँसी, अंगार-से आँसू देखे हों...

वीरेन ने यह सब भर-नयन देखा-सुना था !...उसका मन नूर से कुछ बातें करने को मचलने लगा । न रहा गया, तो उसने किवाड़ों को थपथपाया ।

“कौन है ?” नूर सिसकती हुई बोली ।

“मी आहे, बाई !” वीरेन की बगल में खड़े विठ्ठल ने आवाज़ दी । मन मारकर, वीरेन एक ओर हट गया ।

साँकल खोलकर नूर ने विठ्ठल को ताका । विठ्ठल का चेहरा उदास, उतरा हुआ था । बोला—“क्या करेगा, बाई ! कल रात-भर इधर-उधर दौड़ता रहा । कभी हवलदार के पास, तो कभी जमेदार के पास । कभी कारकून को मस्का लगाया, तो कभी इनस-पेटर को !...अक्खा रात-भर मेरे को आँखी लगाने को कसम हो गया, बाई ! अभी तुमरे को क्या बताऊँ, उस साले...क्या नाम उसका...पांडुरंग उसे सोनापुर ले जाए...क्या नाम उसका...तो उसको, बाई, हम दश रुपया दिया—कि ‘जमेदार, कैसे भी दादा का फाँसी दूर करो ।’ बोला, कि दो पत्ता माँगता है, खजूर छाप का !...अभी, बाई, क्या, दश तो स्वामी ने दिया था, दश फिर हम

हमारे खीसे से दिया ...अभी तुमारे से क्या कहेगा, बाई, घर पर बाल-बच्चों को कफन का ठिकाना नहीं ।”

“तेरे पैसे मैं दे दूंगी,” तूर बोली—“पर, दादा की जमानत का बन्दोबस्त कैसे भी कर ले । आज मैं भी चलूंगी दादा को देखने ...तो, उस जमादार ने क्या जवाब दिया था ?”

“उसने इनस्पेक्टर से डोरी ढीली करवाने का वेंदा किया था ।” विट्टल बोला—“घबराती क्यों, बाई ? दादा को छुड़ाने के वास्ते हम मुंबई-सतारा एक कर देगा । क्या, जिंदगी को मक्खी का माफिक भी नहीं समझेगा ?” अच्छा, बाई, आज ‘सनडे’ है, क्या, दादा से मिलने का होगा, तो चले जाना ।”

“तू भी साथ में चलना ।”

“मैं ...मैं क्या करेगा ? ...अच्छा बाई, चलेगा । अभी जरा घर को जाता हूँ । क्या, शाम को चलेगा ?”

“अच्छा, शाम को जरूर आना ।”

“जरूर आऊँगा, बाई ! ...तो जरा पैसे ...क्या करेगा, बाई, माँगने को दिल दुखता है, पर अपना भी हालत कन्टम है । क्या, बाई, घर-घर मिट्टी का चूल्हा है ।”

तूर ने दुपट्टे की गुलाबी गाँठ ढीली कर दस का नोट विट्टल को दिया । विट्टल की आँखें चमक उठीं कि तूर के पास खजूर छाप के और भी कई पत्ते हैं । उसे अपने कहे वचन याद आए—‘बाई लोग को चलाते क्या ‘टैम’ लगता है ?’

और उसके होंठों पर एक कुटिल मुसकान थिरक गई ।

विट्टल चला गया ।

तूर अंदर जाने लगी, तो इच्छा होते हुए भी एकाएक ‘रुकिए तो,’

महीं कह सका वीरेन । तभी आवाज़ आई—“जरा अन्दर आ सकेंगे आप ?”

वीरेन जैसा था, वैसा ही चला गया—द्वन्द्वाभिभूत-सा । नूर अब तक प्रकृतिस्थ हो चुकी थी । बोली—“मैं हिंदू हूँ, आप जान ही गए हैं । मुसलमान की बीबी बनकर यहाँ रह रही हूँ—आपको मुझसे घृणा हुई होगी ? अब क्या छुपाऊँ, इससे पहले मैंने कुछ दिनों वेश्या-वृत्ति भी की और...”

“देखिए,” वीरेन बात काटकर बोला—“जिन्हें कभी प्यार नहीं मिलता, वे घृणा करना नहीं जानते । घृणा तो केवल वे कर सकते हैं, जिन्होंने अपेक्षा से अधिक प्यार पाया हो...मुझे आपसे घृणा हो सकती है, ऐसी कल्पना भी क्यों करती हैं आप ?”

नूर सहसा कुछ कह न सकी ।

वीरेन कहता रहा—“मैं जिंदगी के कई दौरों से होकर यहाँ पहुँचा हूँ । परिस्थितियाँ कहाँ तक मनुष्य को गिरा देती हैं, उसे समझता हूँ । आपकी ही बात दूसरी है, मैं किसी भी वेश्या को विवशा से अधिक कुछ नहीं कह सकता । विवशता सबसे बड़ी वेश्यावृत्ति है । मैं भी वेश्या हूँ...न-जाने मेरी क्या आकांक्षाएँ थीं, और आज मैं क्या हूँ ? पर, मन मारे पड़ा हूँ ।”

फिर पूरे घण्टे-भर तक बातें होती रहीं । नूर ने अपनी करुण जीवन-गाथा सुनाई । सुनकर, वीरेन का हृदय पसीज गया । बोला—“इतना कष्ट सहकर भी, आप अपने को इतना कोमल रख सकी हैं । इतनी मिठास मैंने किसी की बातों में नहीं पाई, इतना दर्द किसी के हृदय में नहीं देखा...आप कितनी अच्छी हैं, इसे आप नहीं समझ सकतीं । दादा-जैसा खूँखार व्यक्ति भी आपके आगे अच्छा

बन जाता है, यह कुछ कम नहीं। आपने जो-कुछ भी किया, उसे दोष देना अन्याय होगा। मुझे तो आपके प्रति श्रद्धा-सी हो चली है....।”

“आप भी नैनीताल के ही हैं ?” नूर ने प्रशंसा से बचने के लिए प्रश्न किया।

“नहीं, मेरा घर अल्मोड़ा है।” वीरेन बोला, और ‘अल्मीड़ा’ शब्द मुँह में आते ही सीधे अंतर्मन के अन्तिम छोर तक जा पहुँचा, जहाँ स्मृति-सर्पिणी कुंडली मारे बैठी थी....और वीरेन की आँखों में एक तसवीर नाच गई—

वसंत पंचमो का वह दिन....

वह सरू, वह साटन का पिछौड़ा....

फिर,

सरू की बारात....

वह बड़ा पत्थर, साटन का वह पिछौड़ा,

पानेतोली का वह तालाब....

“आप तो रोने लगे !”

नूर के इस प्रश्न ने उसे चौंका दिया। जल्दी में कोई उत्तर न सूझा।

वह बोली—“घर की याद आई होगी ?”

“हाँ !”

“घर की याद कुछ ऐसी ही होती है।” वह बोली—“आप सामने बैठे हैं, तो जैसे अपने नैनीताल गई हूँ—ऐसा लगता है....” और उसके कानों में भी नैनीताल की पहाड़ियों की वे चीखें गूँज उठीं....मन के रेतोले मैदान में कोई घोड़ा विद्युत वेग से दौड़ गया.... हाथों की मेंहदी लगते-लगते पुँछ गई, पैरों का महावर नाचते-नाचते

काला पड़ गया, हाथ की चूड़ियाँ खनकते-खनकते टूट गईं...

और उसकी आँखों के आगे अंधकार छा गया ।

“और आप हँस रही हैं ?” मन हल्का करने के लिए वीरेन ने विनोद किया ।

आँसू इतने उमड़ पड़े थे, कि जल्दी पोंछे भी नहीं गए । मुसकुराने का प्रयास कर, बोली—“आपने अपनी कहानी सुनाई नहीं ?”

“कभी सुनाऊँगा फिर ।” वीरेन बोला—“अभी आप बहुत दुःखी हैं ।”

जिद करने का साहस न बटोर सकी । बोली—“शाम को दादा से मिलने चलिएगा ?”

“अवश्य,” वीरेन बोला—“उनका मुँह पर बहुत बड़ा अहसान है ।”

वह बोली—“इतना कह दूँ, उन्हें मैं बहुत चाहती हूँ । उस व्यक्ति ने मेरे लिए अपनी बुरी आदतों का बलिदान किया...आज से तीन वर्ष पहले आपने उन्हें देखा होता, तो आप देखते कि कितना खूँखार वह व्यक्ति था !... वह मुसलमान हैं, पर मैं उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखती हूँ ।”

तूर ने क्यों इतना-कुछ कहा ? ठाकुर ठीक से निर्णय नहीं कर पाया । पर, एक प्रश्न हृदयाकाश में बिजली-सा कौंध गया, कहीं इसलिए तो नहीं कि अपने यहाँ की समझकर मैं उसे किसी और नज़र से न देखने लगूँ...कुछ ऐसी नज़र से, जिसे प्रणय-निर्देशिका कहा जाता है ।

बोला—“मैं भी उन्हें अच्छा व्यक्ति मानता हूँ । विजातीय होने से ही कोई अश्रद्धा का पात्र नहीं होता...उन्होंने मेरे साथ

बड़े भाई का-सा सलूक किया है ।”

“आप उनसे यही नाता बनाए रहें ।” नूर बोली—“यहाँ रहकर ही प्रयत्न करें, कहीं अच्छी नौकरी लग जाए, तो चले जाइएगा.... पर, मुझे भूल तो नहीं जाएँगे आप ?”

“आपको अपने साथ ले चलूँगा,” वीरेन कह तो गया, पर दूसरे ही क्षण लज्जित हो गया । बोला—“मेरी बातों का बुरा न मानें । मैं अजाने ही ऐसा कह गया, जो नहीं कहना चाहिए । पर, विश्वास कीजिए....”

“मैं विश्वास कर सकती हूँ ।” नूर ने किंचित् रूखे स्वर में कहा—“पर, दादा का ध्यान रखिएगा । मुझे इतना चाहते हैं, कि किसी का मुझे ताकना भी उन्हें बुरा लगता है....आप समझदार हैं, मेरी विवशता, मेरी स्थिति को समझकर ही संबन्ध रखें । आप मुझे अच्छे लगते हैं, पर हमारे बीच एक सीमा है, जिसे लाँघना ठीक नहीं....और, एक विनती है—दादा को यह न मालूम होने पाए, कि मैं हिन्दू-कन्या हूँ । वह मुझे झूठी समझेंगे । मैंने उन्हें अपने को मुसलमान बताया था....”

“आप विश्वास कर सकती हैं ।” वीरेन इतना ही दुहरा सका ।

नूर को लगा, व्यवहारिकता के नाते उसने कुछ भी उपदेश दिया हो, ठाकुर के मुँह से ‘आपको भी साथ ले चलूँगा’ सुनकर उसका मन बाँस-भर उछला था—यह सही है ।

•

•

•

दोपहर का खाना ठाकुर ने अन्दर बैठकर ही खाया ।

तीन बजे विट्ठल आ पहुँचा । बोला—“बाई, तैयार हो ?”

नूर बोली—“तैयार क्या होना है, मैं चलती हूँ ।” दरवाजे में

ताला लगाकर, विठ्ठल की ओर रुख कर बोली—“ठाकुर भी साथ में चल रहे हैं ।”

“अरे, बाई, ठाकुर साहब क्या करेगा उधर ?” विठ्ठल बोला—
“फिर पुलिस का मामला है, वो लोग नया आदमी को देखते ही खरगोश का माफिक कान, बैल का माफिक सींग करते है...क्या, बाई, भाई साहब को बेकार में क्या तकलोफ देना ?”

“तो आप घर पर ही रहिएगा ।” जाते-जाते नूर बोली—
“साँझ तक लौट आऊँगी । यह चाबी रख लीजिए, जरूरत हो किसी चीज़ की तो ले लीजिएगा ।”

और नूर ने अपना बुर्का पैरों तक कर लिया । नूर को बुर्के में ढँका देख, वोरेन को वितृष्णा-सी हुई, उसने मुँह फेर लिया ।

सामने मोड़ पर ही, अपने भोपड़े के आगे खड़ा स्वामी एकटक इधर ही देख रहा था । स्वामी को देखा तो ‘पंछी जाल में है,’ यह दिखाने के लिए, विठ्ठल ने पैर फिसलने के बहाने नूर को थाम लिया ।

“क्या हुआ, रे ?” नूर ने पूछा ।

पर विठ्ठल तो जैसे खो गया था । जैसे-तैसे बोला—“पाँव फिसल गया था, बाई !”

कुछ कदम चलने पर बोला—“अभी तुम जरा नाका ऊपर ठहरो, क्या, मैं जरा अन्ना स्वामी से गोष्ठी करके आता हूँ ।”

स्वामी के पास आकर, विठ्ठल ने दाँई आँख दबाई । स्वामी विरादरी के लोगों की आँखों का सिगनल पहचानता है, कि दाँई आँख हरी बत्ती, हरी भंडी है, बाँई आँख लाल बत्ती, लाल भण्डी । इन्हीं दो सिगनलों पर उनकी जिंदगी की लोकल-ट्रेन चलती-रुकती है ।

“तू तो, बेटा, पंछी को पिंजरा में लिया—अइसा लगता है ?”
स्वामी उसकी पीठ थपथपाकर बोला ।

विट्ठल का सीना और तन गया, दाँई आँख और दब गई—
“हम भी एकच जासूस है, वस्ताद ! अभी तुमेरे को यकीन नहीं
आएगा, हम उसको पकड़ा, तो बोली—रास्ते में ऐसा मत करो, कोई
देख लेगा !....”

“माल कैसा है ?”

“बताएगा क्या, हमारा हाथ देखो, वस्ताद !” स्वामी के हाथ
में अपना हाथ रखते हुए विट्ठल बोला—“देखो, हमारा हाथ !”

“क्या देखूँ ? काँपता तो नहीं, जैसे जान ही नहीं !” स्वामी
दबा-टटोलकर बोला—“दिल दिखा ।”

“अभी तुमेरे को हाथ देखने को नहीं आया, तो दिल क्या
दिखाएगा, वस्ताद ?” विट्ठल बोला—“कइसा क्या, बिजली का
‘करैन्ट’ लगने पर हाथ काँपता है, या बेजान हो जाता है ?”

स्वामी की आँखों के प्रश्न को प्रश्न ही छोड़कर, विट्ठल आगे
बढ़ गया, पर स्वामी के बुलाने पर लौट आया । स्वामी ने उसे पाँच
का नोट दिया । बोला—“रास्ते में खर्च करना, दादा के लिए बीड़ी-
काड़ी ले जाना । पर, देख, बेटा....वस्ताद से पहले ‘महूरत’ नहीं
करना ? कईसा क्या ?”

“नहीं, नहीं, वस्ताद !” नोट को मुट्ठी में दबाता हुआ विट्ठल
बोला—“महूरत तो तुमेरे ही हाथ से होगा; परा थोड़ा-सा धूप-दीप
हम पहले कर लेगा । कईसा क्या?”

अंधेरी स्टेशन पहुँचने तक विट्ठल सोच रहा था, कि ट्रेन में
ज्यादा भीड़ हो तो अच्छा, ‘बाई’ के जिस्म से सटकर खड़ा रहेगा....

पर जब ट्रेन आई तो नूर जनाना डिब्बे में जाती हुई बोली—“मैं इधर बैठती हूँ, सांताक्रूज उतर जाऊँगी।”

जैसे कौए की चोंच से मथुरा का पेड़ा छूट गया हो ! मन मारकर बोला—“बाई, इधर हमारे साथ आओ न ? गाड़ी में चिकार-गर्दी है, तुमारे को उतरने को भारी पड़ेगा । कइसा क्या…”

पर, नूर अंदर जम चुकी थी ।

सांताक्रूज स्टेशन आने पर दोनों बाहर निकले । एक बार आकाश और एक बार नूर की ओर देखकर, विठ्ठल बोला—“बाई, स्वामी पाँच रुपया दिया है । क्या, बिचारा तुमारे से बहुत हमदर्दी रखता है । कहता था—आपके लिए जिंदगी भी खलास होईगा, तो भी बांदा नहीं ।”

नूर कुछ न बोली ।

विठ्ठल बोला—“अच्छा बाई, दादा के वास्ते कुछ बीड़ी-काँड़ी लेने का…”

“दादा तो सिगरेट पीना छोड़ चुके हैं !” नूर ने प्रश्न किया—“मुझसे तो यही कहते थे । तूने इधर कभी उन्हें पीते देखा है ?”

“नहीं, दादा तो नहीं पीते । लेकिन, क्या, उदर और बिरादर लोग को बाँटने का काम आएगा…लाकप और जेल में मजा करने का होगा, तो बिरादर लोग को बीड़ी-काँड़ी सप्लाई करने को होना, बाई । आई शपथ, एक बीड़ी दो तो एक घंटा सिर का चम्पी कोई भी करेगा ।”

“तो, ले ले ।”

घोड़बन्दर रोड पर पहुँच जाने पर, नूर बोली—“देख, विठ्ठल, ईरानी के होटल से दो-चार केक भी ले लेना, दादा को अच्छे

लगते हैं।”

बिटुल ने चार पाकिट पीला हाथी लेकर, दो अपने लिए रिजर्व कर लिए, फिर कुछ केक लेकर वापस आ गया—“चलो, बाई !”

दादा जब से पकड़ा गया, बड़ा उदास था। पहले तीन बार जेल हो आया, पर कहता था—‘यार, गम कैसा ? समुराल जा रहा हूँ।’ इतना जिंदादिल था वह, कि जिस जेल या चौकी में रहता, उसे आबाद और गुजफाम बनाए रहता। गाँजे की कलियाँ उठाई जातीं, दस-पाँच इश्को-मुहब्बत के शेर पढ़े जाते और फिर भाकड़े का तबला बनता, टीन के डिब्बे का—जो चाय-पानी पीने से लेकर शौच तक के लिए था—मंजीरा बनता, और कव्वालियाँ शुरू होतीं—

हाजी मलंग सा धूले भूल न जाना, या ‘इस्माइल आज़ाद टाइप’ की ‘मेरे जोबना का देखो निखार, हो पापी, हो पापी, जोबना का देखो निखार !’ की ट्यून पर फिट की हुई यह कव्वाली होती—

“मेरे बाबा का देखो चमतकार,

मलंग बाबा का देखो चमतकार, हो बाबा, हो बाबा, साई बाबा का देखो चमतकार !”

‘रंग लाती है हिना पत्थर पे घिस जाने के बाद’ का अर्थ अपने फार्मूले पर किया जाता, कि एक बार दीवारें भी शरमा जातीं।

फिर चरस का दौर चलता—

“अली, जिसने न उठाई चरस की कली, उस मर्द से बीबी ही भली, अरी ओ छमियाँ, छमाछम कहाँ को चली ?”

दूसरा कहता—“शिवशम्भू, गिरा दे मकान, लगा दे तम्बू, हवलदार को मार बम्बू, जमेदार का बना लम्बू...ओ-ई-ई-ई सिट...

तीसरा और रंग चढ़ाता—“हरी बम, लगे दम, मिटे गम।

इनसपेटर मिला पावली कम; कानी बीबी, लूला खसम । ई-ई-ई... धूला, तेरे ही नाम का जहूरा, बाकी सब घास-कूड़ा...साई-ई-ई... ठसका, चरसिया यार किसका ? दम लगाई और खिसका...”

यों चरस के धुँए के साथ मन का सारा चर्चा-पिर्चा उगला जाता, सिनेमा की हिरोइनों से अपने रिश्ते बाँधे जाते । फिर पीर-पैगम्बरों की कथाएँ चलतीं । अली-हनुमान को गुरुभाई बताया जाता । रामायण-महाभारत, कुरान-इंजील की कहानियाँ सुनाई जातीं । इंशा अली कहता—“महाभारत-रामायण और कुछ नहीं है, कुरान का तर्जुमा है ।”

फिर जेलों की बातें छिड़तीं, कि वहाँ किस तरह औरत के अभाव में, लोंडों से काम चलाना पड़ता था ।

जुम्मन कहता—“अरे, यार, जेल तो ब्रिटिश के जमाने में थी, अब तो ससुराल हो गई है । ब्रिटिश के जमाने में न बीड़ी-कांड़ी मिलती थी, न छोकरे । तब छोकरे कम पकड़े जाते थे । जब से कांग्रेस सरकार हुई है, मौज है मौज ! बीड़ी-कांड़ी को अभी कुत्ता भी नहीं पूछता, कुत्ता । छोकरे भी एक-से-एक मिल जाते हैं । पिछले बरस मैं था, पूना के अरोरा जेल में । क्या बताऊँ...! बगैर टिकिट, गंजी फाक, खिलौने, मूंगफली बेचनेवाले पचासों छोकरे वहाँ थे । हम लोग रात को कम्बल डालकर, मुँह दाब देते ।”

“पुलिस कुछ नहीं कहती थी ?” कोई नया पंछी पर फड़फड़ाता ।

“अरे, यह बन्दोबस्त तो खुद सरकार ने किया है !” जुम्मन कहता—“लम्बी सजावाले आखिर कब तक ऐसे ही रहेंगे ?”

“सरकार औरतें क्यों नहीं देती ?”

“बच्चे ज्यादा हो जाएँगे, तो जेल में सँभालेगा कौन ? छोकरों

से यह खतरा तो नहीं ? नहीं तो मैं पूछता हूँ, जरा-जरा-से कुसूर पर कच्ची उमर के छोकरो को सजा देने की जरूरत ही क्या ? अरे, यार, यही तो 'पालिटिक्स है !...'

“पालीटिक्स ?”

“हाँ, हाँ, पालिटिक्स !...वैसे कैदियों के लिए छोकरे भेजें तो लोग उज्र न करें ? इस बहाने कोई अँगुली नहीं उठा पाए सरकार पर !”

दादा झिड़क देता—“हटा यार, कैसी फिजूल बातें करता है ! वह मरद ही क्या, जो छोकरो से छेड़ाखानी करे ?”

जुम्मन हँस देता—“अरे, दादा, आप-जैसे नेकनियतों के लिए तो ससुराल भी जेल हो जाए !...काश्मीर में एक-से-एक खूबसूरत छोकरियाँ होती हैं, फिर भी पठान लोग छोकरे ढूँढने के लिए हिन्दुस्तान आते हैं !”

०

०

०

दादा का शरीर इतना भारी-भरकम था कि कैदियों पर उसका रौब छाया रहता । इस पर उनकी मूठचढ़ी लाठी-सी मूँछें, और चमकती आँखें ! जुम्मन कहता था, “आपकी आँखें हैं, या खुदा, कि बिजली के बलब !”

दादा में शारीरिक बल भी बहुत था । हालांकि छोटी-छोटी बातों को लेकर वह कभी लड़ता-भगड़ता न था, पर उसके तेवर बदलते ही प्रतिरोधी के ललाट से पसीना चूने लगता । बड़े जीवट का था । जब काटते बिल्ली-सा दुबकता, तो भगड़े के समय शेर-सा भपटता ।

पिछले तीन वर्षों से, जब से तूर दादा की जिंदगी में आई, दादा

की अपराध-वृत्ति दब गई है, अपराध-वृत्ति दब जाने से जीवट भी कम हो गया है। पर, अभी भी मजाल क्या, कोई आँख चढ़ाकर घूरे ! अलबत्ता दादा अब खुद भगड़े से किनारा काटता है।

अंदर कुछ लोग 'कोटपीस' खेल रहे थे; कुछ सो रहे थे, कुछ सामने की बिल्डिंगों के बरामदों में खड़ी हवलदार-जमादारों की बहू-बेटियों से अपना रिश्ता जोड़ रहे थे; कुछ लोग तेरह बरस की घाटन छोकरी से मुहब्बत करते पकड़े गए, सरदार जी का गाना सुन रहे थे—

“वोई, मैं जट्टी पंजाब दी, मेरे हिरणा वरगे नैन !”

दादा बाहर बरामदे में बैठा जुहू की ओर जानेवाली बसें देख रहा था। मन न लगता था। तूर की फिक्र थी, ठाकुर की फिक्र थी। है तो मेरा यार बदकिस्मत !

दादा आज बहुत उद्विग्न था।

भविष्य प्रश्न-चिह्न की तरह उसके मानस की काव्य-पंक्ति के प्रत्येक शब्द के पीछे विषधर तस्कर-सा, कुंडली मारे बैठा था—
तूर...? तूर...? तूर...?

तूर—जैसे यही उसके महाकाव्य का 'मा निषाद' था !...तूर—
जैसे दुनिया में एक यही नाम था, जिसे पुकारते समय उसके स्याह होंठों पर कनेर के फूल की-सी लाली फैल जाती...तूर—जैसे यही उसके अरमानों का सीमा-चिह्न था !

विशाल विश्व में अरबों व्यक्ति, अरबों नाम हैं—पर अपनी तो दो हाथों की एक अंजलि होती है, दो हरफों का एक नाम होता है !

आज दादा पालने में पड़े शिशु-सा निरीह, खटिया पर लेटे मरणासन्न वृद्ध-सा अशक्त और चिंताकुल हो गया था...

एक बिरादर ने ५५५ का डिब्बा बजाया—“चहा आली, रे !”
जैसे कोई बहुत बड़ी नियामत जिंदगी में आ गई हो; और यह
५५५ का डिब्बा...? अमीर जिसे बेकार समझकर फेंक देते हैं, उसे
गरीब सँभाल लेता है। अमीर जिसका रस चूसकर छोड़ देते हैं, वही
गन्ना गरीबों को मिलता है। जोंक असली रक्त चूस लेती है, फिर
जो जरा-सी जोंक की जूठन बच जाती है, उस पर मक्खियाँ जा
बैठती हैं !

५५५ का डिब्बा बज रहा था—

“दादा, चाय आ गई, चाय लो !”

दादा अपनी आँखें धरती के आँचल से माथे तक फैलाए बैठा
था—

दादा ने देखा, नूर आ रही थी।

चौदह

“नूर !” दादा जैसे मुंह से नहीं, आँखों से बोला ।

रूम नं० ३ में चरस की कली उठाई जा रही थी—‘शिवशंकर, काँटा लगे न कंकर, खाने-पीने का ढंग कर, दुश्मनों को तंग कर... शंभू...ऊ...ऊ...ऊ...न नाटा भला, न लम्बू...प्रभू...ऊ...ऊ...ऊ...अजब तेरी प्रभुताई...न सास भली, न जमाई, लौंडी मिली हरजाई...भेज दे...ए...ए...ए...छप्पन करोड़ की चौथाई, बारा बरस की लुगाई...’

“तुम्ह-जैसी देवी को पाकर भी मैं खो रहा हूँ, नूर,” दादा बोला—“इसका बड़ा सदमा पहुँचा है मुझे । जेल पहले भी काटी है, पर इतना गम कभी नहीं हुआ । चाहता था, जिदगी कभी तो सुधर जाए । कोशिश भी करता था...पर, अब तो सारे स्वाब ही मिट्टी में मिल गए !”

“आप तो ऐसे बातें कर रहे हैं, जैसे मुझे...” नूर रोने लगी—

“हमेशा...हमेशा के लिए छोड़े जा रहे हों !”

दादा ने मुँह फिराकर विठ्ठल की ओर देखा—“विठ्ठल !”

“काय, दादा ?”

“कल तू मुझे देखने भी नहीं आया ?”

“आया था, दादा, पांडुरंगाची शपथ ! अभी तुमरे को क्या बोले, आई^१ शपथ !...हवलदार लोग से बात करके चला गया... बाई को सब मालूम है...अक्खा रात-भर हम घर नहीं गया । हमेरा आइडिया था, क्या, जमानत-वमानत का जुगाड़ लगा के आएगा ।”

“कुछ किया भी ?”

“कल-परसों तक हो जाएगा, दादा ।”

“परसों क्या,” दादा हँस दिया—“तुझ से बरसों तक भी नहीं होगा कुछ । जरा तू घूम-फिर के आ, मुझे नूर से कुछ बातें करनी हैं ।”

विठ्ठल चला गया, तो दादा बोला—“नूर !”

“जी !”

“मैं जो-कुछ कहूँ,” दादा कंधा थपथपाकर बोला—“उसे जरा गौर से सुनना । मैं जानता हूँ, तुम्हें सदमा पहुँचेगा, मगर, खतरा सामने आने से पहले ही तुम्हें आगाह कर देना चाहता हूँ ।”

कुछ रुककर, दादा फिर बोला—“इस बार मैं जल्दी न लौट पाऊँगा, नूर !”

“ऐसा न कहिए...” नूर चीख-सी उठी ।

“हकीकत छुपाने से कुछ फायदा नहीं, नूर !” दादा बोला—
“दारू के मामले में कम-से-कम छः महीने की सजा होगी…फिर, तुम्हें
नहीं मालूम, नूर, इस बार मैं दो-तीन बरस के लिए तड़ी-पार हो
जाऊँगा।”

“तड़ी-पार……?” नूर की आँखें गौरैया की कंटक-विंधी चोंच-
सी फैली ही रह गई।

“तुम शायद ठीक से समझ नहीं सकोगी। तड़ी-पार का मत-
लब होता है—देश निकाला, बारह पत्थर बाहर……समझीं? बम्बई
सरकार का कायदा है, जितने पुराने गुनाहगार हों, उन्हें बम्बई-
बाहर कर दिया जाय।”

“तो……तो, कहीं और चले जाएँगे हम !……” नूर बच्ची-सी सिस-
कने लगी—“कहीं भी चले जाएँगे—दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद……
कहीं भी……”

“सो तो जाना ही पड़ेगा, नूर।” दादा उसके आँसू पोंछते हुए
बोला—“पर, मुझे अकेले !”

“आपको……अकेले क्यों? मैं भी साथ चलूँगी।”

“यही तो ग़म है, नूर। तुमसे जुदा होना है, इस ख्याल से ही
जैसे जिसम् से बोटी-बोटी जुदा हुई जा रही है……” दिल के दर्द को
कड़ुवी दवा की तरह पीकर, दादा रत्ती-भर मुसकरा दिया, काले-
स्याह बादलों के बीच बिजली आई, न आई-सी हो गई। बोला—
“पहले जमानत नहीं हुई तो दो-तीन महीने यहीं हवालात में सड़ना
पड़ेगा, तब कहीं जाके फैसला होगा, तो साल-भर के लिए कहीं जेल
में जाना होगा। फिर उसके बाद तड़ी-पार……नूर……!”

“जी !”

“भर दल की तहों में जो तूफ़ान उठ रहा है, उसका अंदाजा खुदा भी न लगा सकेगा। खुदा से मैंने यही आरजू की थी—दुनिया की हर खुशी से मुझे मायूस कर दे, फरियाद न करूँगा, शिकायत न होगी……पर, मेरी तूर को मुझसे जुदा न करना……लेकिन, खुदा बड़ा……मगर, खुदा पर भी इलजाम कैसे लगाऊँ ? मेरे बुरे कर्मों का नतीजा है……एक बात पूछूँ, तूर ?”

“जी……पूछिए !”

“दो-तीन साल के बाद कभी मैं लौटूँ……शायद, तब तक तुम मेरा इंतजार न कर सकोगी……मुमकिन भी नहीं है……” दादा की आवाज आँसुओं से भी भारी हो चली थी।

तूर आँसुओं के सागर में अतल गहराई तक डूब गई थी। मुँह से बोल न फूट रहा था, केवल नयन-गंगा की कछारों पर भादों ताण्डव कर रहा था।

“कुसूर मेरा है। इतना बन्दोबस्त भी तो मैं कर नहीं सका, कि मेरे बाद भी तुम अपने दिन गुजार सको। रोटी जिंदगी की सबसे बड़ी जरूरत है, तूर !……मुझे अफसोस है, कि मजबूरी की हालत में तुम्हें मैं लाया था, मजबूर ही छोड़ जाऊँगा……मैं अपना फर्ज पूरा न कर सका, तूर !……” दादा की आँख के आँसू कंजूस के दान के पैसों की तरह गिरने लगे।

जब पुरुष आँसू गिराने लग जाता है, तो नारी के आँसू थम जाते हैं। तूर ने जब दादा को इतना विकल देखा, तो उससे न रोया गया। बोली—“मैं समझ नहीं पा रही हूँ, जी, कि आखिर मैं क्या करूँगी ? कैसे गुजर करूँगी ?”

“यही तो गम है, तूर ! ऐसा लगता है, जैसे कोई मेरे कलेजे

को चीर रहा है। कोई ऐसा रिश्तेदार भी नहीं, जिसे तुम्हें सौंप सकूँ। मुँगरापाड़ा तो नंगों की बस्ती है। आदमी जिसम से नंगा हो, तो उतना बुरा, उतना खतरनाक नहीं होता, नूर, जितना दिल से नंगा हो जाने पर होता है !...स्वामी, डिसोजा, दुःखहरन...किसी पर यकीन किया जा सके, ऐसा कोई नहीं। अलीबख्श अब पैसेवाला हो गया है, पैसेवालों की नियत कौए की आँख होती है !...किस्मत तुम्हें कहीं भी ले जाए, अपने हाथों से शैतान के मकबरे में दिया मैं कैसे जला सकता हूँ ?...और, हाँ, नूर...वह ठाकुर नहीं आया ?”

“वह घर पर हैं, विठ्ठल ने मना कर दिया साथ में आने को। जब से आप पकड़े गए, बहुत दुःखी हैं !” नूर बोली।

“बिठुवा साला हरामी है !” दादा जरा तेज स्वर में बोला—
“मुझे ठाकुर से कुछ बातें करनी थीं। वही एक ऐसा है, जिस पर भरोसा किया जा सकता है। उसकी बातें, उसकी मासूम आँखें... उसके दिल में अभी मैल जरा भी नहीं पहुँचा है...सुनो, नूर, एक रास्ता है—तुम्हें पसन्द आए तो...”

“जी, कहिए...”

“नूर, ठाकुर बहुत अच्छा आदमी है। तुम हिम्मत न हारकर, उसके कंधे से लगी रह सको, तो आखिर मर्द है। दो साल बहुत लंबे नहीं होते। भोंपड़ा रहने को है ही। कुछ पैसा तुम्हारे पास होगा ही ? मुसीबत के दिन कट ही जाएँगे...जेल से छूटते ही मैं लखनऊ चला जाऊँगा। तड़ी-पार की मियाद तक शायद वहीं रहूँ। तुम इंतजार कर सकोगी, नूर ?”

“जी, करूँगी !”

“नूर !” दादा ने उसके हाथों को अपने हाथों में दाब लिया।

लौटने पर, नूर और विट्टल जब भोंपड़े तक पहुँचे—संध्या ससुराल जा चुकी थी ।

वीरेन चारपाई पर लेटे-लेटे कोई पुस्तक पढ़ रहा था ।

“अच्छा, बाई !” विट्टल बोला—“मी चालते । क्या, रस्ते में जो तुम बोलती थी, मैं अलीबख्श के यहाँ जाऊँगा । मुझे तो आदमी अच्छा नहीं लगता !...एक दिवस उसकी दुकान के पाटिए पर बैठा बीड़ी पी रहा था, तो बोला—‘कहाँ-कहाँ से पाटीवाले और घाटी मर गए हैं बम्बई में ! बाजू में खड़ा हो के पी !’...”

विट्टल के जाने पर नूर ने ठाकुर के हाथ से पुस्तक ली—“देखूँ, कौन-सी पुस्तक पढ़ रहे हैं ?”

जब तक वीरेन रोके, नूर ने उसके लेखक का नाम पढ़ा, और पन्ना पलटकर आर्ट-पेपर पर छपा हुआ चित्र देखा...और यत्न करने पर भी, वह विस्मय का बोझ न सँभाल सकी—किताब हाथों से गिर पड़ी ।

वीरेन ने किताब उठा ली ।

बोला—“मेरा फोटो देखकर इतना क्यों चौंक गई आप ?”

अपनी उतावली छुपाते हुए, नूर मुसकरा दी—“आप तो कवि हैं !”

“हाँ, कवि तो हूँ...लेकिन इस नाते नहीं कि मेरी पुस्तकें छप चुकी हैं, या मुझमें सच्ची काव्य-प्रतिभा है,” वीरेन बोला—“बल्कि इसलिए कि होश सँभालने की पहली साँस से लेकर, आज तक कहीं लाड़-प्यार कहीं सुख-चैन न मिला मुझे...और कविता वेदना-विवशता और भावना की त्रिवेणी है । नदियाँ हमेशा ढलान की ओर रुख करती हैं और लाचारों के हृदय से ढलाऊ कोई घरती दुनिया में नहीं...”

खैर, छोड़िए यह बात, दादा की जमानत का क्या हुआ ? मेरे विषय में कुछ पूछ रहे थे ?”

“बहुत-कुछ,” नूर बोली—“कह रहे थे—‘नूर’ मेरे बाद ठाकुर का ही आसरा है तुम्हें।”

सूखे काठ-सी हँसी वीरेन का मुँह चटका गई—“मजाक करते होंगे ?”

उत्तर में नूर ने सब बातें बताईं। सब-कुछ बताते हुए उसकी आँखें छलक आईं, और वह पहाड़ी में कहने लगी—“आप अगर साहस बटोर सकें, तो मुझ को आसरा मिल सकता है, नहीं तो न जाने फिर और कितने नरकों से गुजरना पड़े ? आत्म-हत्या कर नहीं सकूंगी। इतनी हिम्मत नहीं है; और जीने के लिए मुझ-जैसी औरत के आगे अपने शरीर को बेचने के सिवा कोई चारा नहीं... ठाकुर, मैं पूछती हूँ, भगवान् ने क्या ये स्तन, यह तन, यह रूप और यह मांस का ढाँचा नारी को यह सब-कुछ केवल इसीलिए दिया है कि वह इन्हें बेचकर रोटियाँ पाए ? अगर औरत के पास यह सब न होता तो... ? तो क्या दुनिया-भर की गरीब कन्याओं के गले घोंट दिए जाते ?...”

आवेश में आकर नूर इतना-कुछ कह गई, कि शरम के मारे आँसू भी घूँघट काढ़े बरौनियों की चिलमन-पीछे जा छुपे। वीरेन सहसा हतप्रभ-सा हो गया। वह समझता था, जब छाँले फूटते हैं, पानी बहता ही है, उसे रोकना-पोंछना भी ठीक नहीं।

धीमे स्वर में बोला—“देखिए, आप दिल छोटा क्यों करती हैं ? आप तो काफी समझदार हैं। नारी को भगवान् ने स्तन क्यों दिए... शायद मैं ऐसी बातें न करता—पर आपने पूछा है... आपने कभी

सोचा, कि हिमालय से गंगा-यमुना क्यों फूटी हैं ? जिस तरह गंगा-यमुना धरती को सींचती हैं, उसी तरह नारी अपने वक्ष के अमृत से मानव-जीवन को सींचती है……रही इनके दूसरे प्रकार से उपयोग में लिए जाने की बात, सो जो वस्तु जितनी महान होती है, विशाल होती है—उसका उपयोग भी उतने ही विविध और विशाल पैमाने पर होता है । नदियाँ सूखी धरती को सींचकर शस्य-श्यामला बनाती हैं, पर लोगों को इतने से ही संतोष नहीं, वे उनकी आत्मा को मथकर बिजली बनाते हैं, उनके वक्ष में छिपे रत्न चुराते हैं……’

नूर से कुछ कहते न बना ।

वीरेन फिर बोला—“फिर आप यह क्यों सोचती हैं, कि वेश्या कलंकिनी होती है, घृणा की पात्र होती है ?……मैं नारी के वेश्या रूप को ही उसका श्रेष्ठतम रूप मानता हूँ, अपने समाज की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए जिस संयम से वे समाज के सारे अत्याचार, सारे रोग-कोढ़ शिरोधार्य कर लेती हैं—यह कितनी बड़ी तपस्या है ? और कौन ढो सकेगा इतना पातक ? और कौन सह सकेगा इतना उत्पीड़न ? नारी वस्तुतः साक्षात् ‘दुर्गा क्षमा सुधा-धात्री’ है !……फिर नारी माँ पहले है, उसे हम अपने हाथों कोठे पर बिठा आएँ, उसे अपना जिस्म बेचने पर मजबूर कर दें, तो शरम नारी को क्यों ? शरम तो उन दैत्यों को आनी चाहिए, जो इतने बेशरम हो गए हैं, कि जिसके आँचल में छुपे पयोधरों का अमृत पीकर सौ बरस लंबी उम्र पाते हैं, उसी का चीर-हरण कर उसे पशुओं की तरह खरीदते-बेचते हैं ! —शरम तो उन्हें आनी चाहिए, जो छज्जों की ओर रूमाल हिलाते, सीटी बजाते समय इतना भी नहीं सोचना चाहते, कि किसने इन हजारों सीता-सावित्रियों के पयोधरों को यों

बाजार में बिकबाकर, घरती को इतने अमृत से वंचित कर दिया !... अपने को सभ्य, सुसंस्कृत और भगवद्भक्त कहनेवाले हम साँपों से भी ज्यादा विषैले हैं, साँप का विष तो दूध पीकर ही बढ़ता है, पर हमारा विष तो अमृत पीकर और बढ़ता है...समय इन तस्करों के विषदन्त कभी यों तोड़ेगा, कि इन तस्करों की विषैली फूत्कारें करण पुकार बनकर रह जाएँगी—माँ, माँ, माँ !!! और अमृत को बेचने वाले ये कमीने बनिए अपनी ही विष-ज्वाला में भस्म हो जाएँगे !....

“ठाकुर !” तूर चीख-सी उठी—“इतने अच्छे हैं आप, इतने विद्वान हैं, मैं न समझ पाई थी !” और उसने वीरेन के चरण छू लेने चाहे...वीरेन परे हट गया, विषयान्तर के लिए पूछा—“मैं क्या कहकर संबोधित करूँ आपको ?”

तूर का तन कुछ सोच ही रहा था, कि मन खिड़की से कूदकर सामने आ गया—“रेवा !”

°

°

°

विट्ठल सीधा स्वामी के पास गया ।

स्वामी ने उसके कंधे पर थाप मारी—“कईसा क्या, रे, विठ्ठल ? कईसी गुजरी ?”

विट्ठल ने स्वामी का बाँया हाथ दबाया, बोला—“अभी, वस्ताद, तुमको यकीन भी नहीं आएगा—खुद हमारे को इतना पोल-पट्टी मालूम नहीं था । क्या, पांडुरगाची शपथ, स्टेशन पर हम बोला, ‘बाई, तुम जनाना डिब्बे में बैठो,’ तौ बोली, बोली क्या कातिल कर गई, वस्ताद !...आई शपथ, बोली—‘अकेले उधर बैठकर क्या करूँगी ?’...”

“अईसा....?”

“अभी तुमको क्या बोले, वस्ताद !...रास्ते में हम लोगों के शरम के मारे उससे जरा हटकर बैठता था, तो हमारे जिसम से चिटक के...और चिटक के...ऐसे चिटक के बैठती थी, देखनेवाले सर्व मागूस उसको हमेरा ही ‘नवरी’ समझता था !...”

‘नवरी’^१ शब्द की मिठास पर विट्टल खुद ही शरबत में शक्कर-सा घुलकर रह गया । स्वामी सोच रहा था विट्टल भी मूरख है । आखिर घाटी ही ठहरा ! कहीं उसको ‘चानस’ मिल जाता तो...

“हमारे लिए भी कुछ ‘माइनस-प्लस’ किया, क्या ?”

“ ‘माइनस-प्लस’ क्या, वस्ताद,” विट्टल बोला—“वशीकरण मन्त्र डाल के आया हूँ । पांडुरगाची शपथ, हम भी एकच जासूस है !”

फिर स्वामी ने दादा का हाल-चाल पूछा, तो विट्टल ने बताया कि वह अब बिना दाँत का शेर हो गया है । बोला—“अभी दादा का जमाना लद गया, वस्ताद ! मेरे को खिसकने को बोलकर, बाई से बातें करता था ।”

“क्या...कईसा...?”

“अरे, हम बोला न, वस्ताद ! हम भी एकच जासूस है ! ये बाजू से खिसककर, वो बाजू दीवार के पीछूँ खड़ा रह के सब सुनता रहा...हम तुमरे को क्या बोला था ? आई शपथ, वोहीच हुआ !... दादा अभी दो-तीन साल के लिए काम से गया । उसका जमानत भी अभी कौन करेगा ? ले-दे के अलीबखश है, उसको हम पट्टी पड़ा देगा, कि मिर्याँ जमानत तुमरे को ही भारी पड़ेगा ! लाक-अप से

बाहर निकला, तो उड़न-छू हो जाएगा पंखी, तुम पिंजरे से सिर पटकते रहोगे !...कईसा क्या, वस्ताद ! क्या, अपन भी एकच जासूस है, बाई को कहता था, 'तुम वो ठाकुर के सहारे रहना । अच्छा आदमी है ।' अरे, आई शपथ, उस गाधले का तो हम कल ही पंख कुतर के रख दूंगा !..."

“ ‘स्कीम’ कभी आजमाएगा ? ”

“कल !” विट्टल ने दाँत निपोर दिए ।

काली रात में उसके दाँत पापी पंडित के माथे चंदन-तिलक-से दिख रहे थे ।

°

°

°

रेवा की आँखों में नींद न थी आज । आज जैसे उसका मन बहुत सुखी था, जैसे बहुत दुःखी था । काश, कि ठाकुर जैसे किसी युवक से किशोरावस्था में ही उसका ब्याह हो गया होता ? इतनी विडंबनाएँ, इतनी प्रवचनाएँ न आई होतीं जीवन में—अनाड़ी खिलाड़ी के आगे शतरंज की मोहरों की तरह, कि किसे किस दिशा में हटाया जाए, इतना भी बोध नहीं !...और उसकी पलक-पालकी की झालर उठा, दर्द की दुहिता चुपचाप नीचे उतर आई ।...

“ठाकुर...”

“कौन ? ओह, आप ? बाहर कैसे आ गई, रेवा ? ”

“नींद नहीं आती । ”

“चिंता नींद की सौतन है,” वीरेन उठते हुए बोला, “और आप जैसे किसी चिरन्तन चिंता में डूबी रहती हैं...यह बोझ उतार फेंकिए, मन हल्का हो जाएगा, नींद आ जाएगी । ”

“कुछ बोझ ऐसे होते हैं न,” रेवा बोली—“जिन्हें हम उतारना

चाहते हैं, पर उतार नहीं पाते । कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें हम स्वयं लादे-लादे फिरते हैं, कि सिर पर कुछ भी न रहा, तो मन कहीं इतनी उछल-कूद न मचाए कि उसे संभालना मुश्किल हो जाए !...

“आप बड़ी सुलभी भाषा में नपी-तुली बात कहती हैं !” वीरेन बोला—“रेवा, मैं सोच रहा था अभी-अभी, कि मेरी भाग्य-देवी के गर्भ में न-जाने कितने संयोग-शिशु पनप रहे हैं ?...डरता हूँ, कहीं वह खुद ही इन सबकी भ्रूण-हत्या न कर दे !”

कुछ क्षण दोनों मौन रहे । फिर रेवा, ठाकुर की खाट के पाए पर बैठते हुए बोली—“आज आप कोई गीत न सुना सकेंगे ?”

वीरेन ने देखा—रेवा की आँखों से आँसू भर रहे थे । बहाना करते झिझक हुई । बोला—“क्यों न सुनाऊँगा ? देवी के प्रथम वरदान को...खैर, सुनिंगा...सुनिए...”

एक बार उड़ती नज़र निरभ्र, तारों-भरे आकाश की ओर डाल, और कुछ क्षण गहरी आत्मीयता के साथ रेवा की अश्रु-डूबी अलसी ज्यों नीली आँखों में झाँकने के बाद, वीरेन ने गीत गुनगुनाना शुरू किया—

“भरते चम्पा के फूल, री,

अँगारों से भिगो रही तुम, अपना हरित दुक्कल, री !

भरते चंपा के फूल, री !”

समयोचित राग विशुद्ध श्याम कल्याण में वीरेन गीत गा रहा था । बड़ा मधुर कंठ था उसका; स्वर-शब्द का संगम लहरता रहा—

“उठे मेंहदी-रंजित पद-तल

किस अनजान मुहूरत में ?

युग-युग की पहिचान खो गई इक अनचीन्ही मूरत में !
 टूटेंगी रेशमी डोरियाँ संस्मृति की उलझी-उलझी—
 लाज-व्यथा का भार लिए, मत सावन-भूला भूल, री !
 भरते चंपा के फूल, री !....
 नीलम-सी निशि के आँचल में
 चरण-चिह्न किस विरहिन के—
 अंकित हैं ?....सुधि-गैल आज, मरी, संजो अश्रु-धन पल-छिनके ?
 सिर धुनती है स्वर-कल्याणी द्वार बन्द पा छंदों के—
 आज भरी है स्वप्न-मालती नयन-गंग के कूल, री !
 भरते चंपा के फूल, री !
 भरते चंपा के फूल, री !....”

गीत पूरा होते-होते, रेवा की आँखों से इतने अश्रु-सुमन भर गए थे कि आँचल ‘चंपा के फूलों’ से भरा लगता था । टस्सर का ब्लाउज रेवा की टीस से कातर होकर, वक्ष से चिपक गया था । रेवा ने अपने अपुष्ट गोवत्स-से दुलकते उरोजों पर गुलाबी दुपट्टा दोहरा कर डाल लिया....बोली—“लेकिन मेरा दुकूल तो गुलाबी है, ठाकुर !”

“कैसा लगा गीत ?”

‘जैसे किसी ने चंपा के फूलों को आँसुओं के कलश में रख दिया हो !”

इतना सुन्दर उत्तर पाकर, वीरेन ठिठक-सा गया । बोला—
 “आप हिंदी भली-भाँति समझ लेती हैं, ऐसा लगता है....?”

रेवा मुसकरा दी—“अस्मिन् किमाश्चर्यम् ?”

वीरेन आज बहुत जल्दी ही उठ गया। उसने कुछ कविताएँ सुन्दर अक्षरों में लिखीं—‘धर्मयुग’, ‘सरिता’ और ‘स्वतंत्र भारत’ में भेजने के लिए। सभी संपादकों को एक ही बात लिखी थी—

‘जीवन में बड़ी विचित्र विडम्बनाओं के मोड़ों से गुजरकर, यहाँ पहुँचा है। पाँव-तले जमीन थोड़ी-सी है—कब खिसक जाएगी, कुछ पता नहीं। आपका थोड़ा-सा स्नेहाश्रय भी पा सका, तो सभवतः पाँव आगे रखने को दिशा-आधार मिल जाए !’

“चाय लीजिए...”

वीरेन को सहसा अपने कानों पर विश्वास ही नहीं हुआ। इतने तड़के उठकर रेवा उसके लिए चाय बनाएगी, इसकी कल्पना भी न थी। रेवा के इस ‘अति-आतिथ्य’ के प्रति वह क्या कहे ? और इसकी तह में कौन-सी भावना है, क्या समझे ? कल्पनाओं के साम्राज्य में विचरनेवाला नागरिक, वास्तविकता के धरातल पर चलने में बड़ी जल्दी करता है। कल्पना-देश का पथ राज-पथ होता है, पर यथार्थ की पगडंडी सदैव कंकरीली-पथरीली और ऊबड़-खाबड़ होती है, इसीलिए ठोकर-पर-ठोकरें लगती हैं। पर, भावुक व्यक्ति तो सावन का अन्धा होता है !

वीरेन रेवा को एकटक ताकता रहा। आज उसने धोती पहनी थी; वीरेन को लगा बाती माटी के दिए में ही अच्छी लगती है। उसने सोचा, अगर यह साटन का गुलाबी पिछोड़ा ओढ़ती...और उसकी आँखों में बीती बात मेले के चर्खों-सी घूम गई...वह सुरू, वह साटन का पिछोड़ा, वह पानेतोली का तालाब, वह बड़ा पत्थर... वह साटन...

“नहीं, नहीं, तुम साटन का पिछोड़ा...” अजाने ही मुँह से निकली

बात को थामते-थामते, वीरेन का हाथ हिल गया और चाय छलक-कर रेवा के हाथ पर गिरी। चाय तेज गरम थी, पर रेवा मुसकराती रही। वीरेन ने चाय का कप एक ओर रखकर उसका हाथ पकड़ा...और यह रेवा, यह तन के जोड़-जोड़ को झुझकोर गया मादक स्पर्श...और यह रेवा...यह ब्राह्म-मुहूर्त की बेला...ये धुँधली दिशाएँ...यह रेवा...वीरेन ने रेवा को कसकर अपने वक्ष से चिपका लिया। रेवा ने भी अपनी बाँहें वीरेन की पीठ पर फैला दीं—दो विपरीत दिशाओं में बहती सरिताएँ जैसे गले लग गई हों। वीरेन ने रेवा का आनन अपनी हथेलियों पर टिका लिया, रेवा की पलक-पखुरियाँ लाज-उन्माद के भार से साँभ के शतदल-सी बन्द पड़ी थीं, इस सौन्दर्य को वीरेन अपनी आँखों की अंजलि से मन-गागर में बूँद-बूँद भरता रहा...पर, बूँद-बूँद घड़ा कहाँ भरता है ? फिर जब तृष्णा जागती है, मन अंजलि से घड़ा, घड़े से तालाब, तालाब से सरिता और फिर अनन्त अगाध सागर बन जाता है—मन न भरा, वीरेन ने रेवा की कनेर कली-सी अघर-पाटी पर अपने काँपते होंठ रख दिए...

मुद्गर खड़ी प्राची का आनन लज्जा से लाल हो गया, और उसने बाल-रवि को स्तन छुड़ाकर आँचल से बाहर कर दिया।

विट्ठल ने देखा, तपे काँच-सा चटककर रह गया। वहाँ से उलटे पाँव स्वामी के यहाँ लौट गया। स्वामी पिचन्ना के मुँह से फरनाण्डिस डीसोजा की शिकायतें सुन रहा था। उसके जोड़-जोड़ डीसोजा ने ढीले कर दिए थे, ज्यों उसके घोबी कपड़ों को अनाप-शनाप पीटकर उनके ताने-बाने ढीले कर डालते हैं, सिलाई उधेड़ देते हैं ! स्वामी उसे समझा रहा था, कि फल लगने पर डाली को

भुकना ही पड़ता है; भूकम्प होता है, धरती में दरारें पड़ती ही हैं। पिचन्ना ने जब उसके पैर पकड़ लिए तो हाथों से परे हटाते हुए बोला—“अच्छा, अच्छा, बाईं अभी जरा सबूर कर। शाम को पिल हाउस से पोपट मलम पट्टीवाले के यहाँ से हिरन-बूटी ले आऊँगा !”

विठ्ठल का खँखारना सुनकर, स्वामी ने सिर ऊपर उठाया, तो वह बोला—“क्या हुआ, अन्ना, पिचन्ना को ?”

“कुछ नहीं, रे, बीमार है।”

“कच्ची उमर में रोजगार करने से ऐसा ही होता है !” विठ्ठल बोला—“फिर, कईसा क्या, स्वामी—पोरी को भी नखरे ज्यास्तीच है...क्या, त्या दिवशीं भी त्याचा आंडावर हाथ लावला होता, ते व्हां त्यांनी मला हलकट म्हटलं !...आई शपथ, मी पण एकच...”

“साला हलकट तो तू है ही !” स्वामी ने विठ्ठल का गला पकड़ लिया—“क्या, साला !...पिचन्नी वो दिन ही हमकूँ बोला नहीं... नहीं तो, साला, हम तेरा खून पी जाता !...साला हमेरा बहन पर बुरा नजर डालिगा, तेरा आँखी फोड़ डालिगा ! क्या, चीर डालिगा सूर !! फाड़ डालिगा...!!!”

विठ्ठल इस अप्रत्याशित प्रतिक्रिया से घबरा गया। पिंड छुड़ाने के लिए बोला—“वो परदेशी है न, स्वामी...वो हमारा बाईं को चूमता था !”

“क्या बोलता है ?” स्वामी ने उसका गला छोड़ दिया।

जैसे घूर्त वैद्य रोगी से पैसा ऐंठने के लिए, ‘अनासिन-एस्प्रो’ से अच्छा हो जानेवाले सिर-दर्द को भी भयंकर रक्त-चाप का लक्षण बताता है, और नाड़ी पकड़े-पकड़े, जो न कभी रोगी को हुए, न होंगे—ऐसे

रोगों के आसार बताता है, उसी तरह विठ्ठल ने भी रेवा-बीरेन्द्र प्रणयोपाख्यान ससंदर्भ कह सुनाया । बोला—“स्वामी, आई शपथ, हम अपना आँखी से देखा है—खटिया पर दोनों ही नंगा, एकदम नंगा पड़ा था—क्या, रात-भर भी दोनों ऐसेच सोया होगा !”

स्वामी के मन को गुस्से के धुँधलके में दिशा नहीं सूझ रही थी ।

विठ्ठल बोला—“पण, वस्ताद, क्या फार आश्चर्याची गोष्ट है—साला हमेरा लोग का आक्खा जिदगी इधर गुजर गया । भालिम ने हाथ से हाथ छुआके कभी एक कोप चा भी नहीं पिलाया !... क्या परदेशी के जिसम से जिसम सटाके पड़ी है !...क्या, वस्ताद, आई शपथ—भूठ बोलना, गू खाना हम बराबर समझता है...परदेशी बाई के गल में जोर-जोर से दाँती काटता था !...क्या बाई लोग का दिल भी उड़ता कबूतर का माफ़िक...हाथ में नहीं आएगा, तो उड़ता रहेगा—आएगा, तो गुटरकूँ-पुटरकूँ भी नहीं करेगा...बाई लोग का दिल भी क्या, खुदा ने एकच दिल बनाया है !”

स्वामी बैरंग लिफाफे-सा बगैर टिकट हो गया था । नरमाई से बोला—“क्या रे, विठ्ठवा, अभी हमेरे को कबूतर का पर ही गिनाते रहेगा ? खुदा कसम, वो परदेशी बिल्ली की तरह मलाई चाटके, हंडी फोड़ के चालू पड़ेगा—फिर साला हम लोग क्या कुत्ता का माफ़िक जमीन का बास लेगा ?”

बराबरी का दर्जा पाकर विठ्ठल को गर्व अनुभव हुआ । बोला—“अरे, घबराते काहे को, वस्ताद ! हंडी फोड़ने से पहले ही हम बिल्ली का डोंका' फोड़ डालेगा ! कईसा क्या, आई शपथ, हम तुमेरे

लिए सर पर कफ़न बांध के चलता है……और एक तुम है, वस्ताद, ज़रा-सी बात पर गला दबा दिया ? क्या ऐसे च दोस्ती बनाता है ?”

स्वामी विठ्ठल का त्रिकोण समझ गया । बोला—“पिचन्नी की बात करता है, क्या रे ? ह-ह……तू तो घर का आदमी है, तेरे लिए कोई इन्कार थोड़े ही है !……जब मैं बाहर रहूँ, तो इधर हमारे ही भोंपड़े में रिया कर ! कइसा क्या, उसकूँ भी सहारा हो जाईगा !”

“आई शपथ ?” विठ्ठल ने स्वामी का हाथ अपने सिर पर रख लिया—“खुदा कसम खाओ, वस्ताद !……नहीं, नहीं, तुम पिचन्ना का ही कसम खाओ……”

“खुदा कसम, रे !”

“नहीं, पिचन्ना का कसम खाओ, वस्ताद !……हमारे को लगता है, तुम हमारे को बना रहा है ?”

“कईसी हलकट बात करता है !” स्वामी हाथ दबाकर बोला—“हम खुदा का कसम खाया न ? अभी बोल, इस दुनिया में खुदा से बढ़के कौन है, रे ? इन्सान को आक्खा ज़िदगी वही देता है…… उसका कसम खाया, समझो, सारी दुनिया का कसम खाया !……पण, बहन का कसम खाना ठीक नहीं, रे ! बहन आखिर कईसी भी हो, बहन है न, रे !”

विठ्ठल चुप रहा, तो कंधा थपथपाकर बोला—“हम खुदा कसम बोलता है, तू अपना बाई को हमारे घर बिठा दे, हम पिचन्ना से तेरा शादी बनाएगा । डीसोजा तो साला हलकट कुत्ता है । शहरी कुत्ता……थू……साला किस हलकट का नाम जबान पर आया । अइसे का नाम तो संडास जाते वखत भी लेने को नहीं होता……ये लोग है

न, रे, साला लोग गरीब का माँ-बेटी का खून चूस के छोड़ देता है...जइसे वो जोंका पेट-भर खून पीने के बाद....”

स्वामी फिर-पाँच साल पहले के दिनों के खतरनाक ‘सूड’ में आ रहा है, यह देखकर विट्टल ने बिल्ली से रास्ता कटवा दिया—
“हम तुमेरे रास्ते का हर मुसीबत फतह करके देगा, क्या, वस्ताद....
परा, मच्छी जाल में आने के बाद, हमेरे को ही ‘लाल बावटा’ मत दिखाना !”

इतना कह, तीर-सी नज़र स्वामी पर फेंककर, विट्टल मुड़कर मोड़ पर आ गया....

•

•

•

‘कानजी मेन्शन’ की खिड़कियों में लगे पतले काँच अभी ठंडे ही थे । बालकेश्वर के बगीचे को भोजपत्र बनाकर, बाल रवि किरन-लेखनी से धरती के नाम प्यार-पाती की पहली पंक्ति शुरू कर रहा था....प्यार के दो बोल लिखने में भी बड़ा बिलम्ब लगता है ।

कानजी सेठ ने रेडियो को ‘स्विच ऑन’ कर रखा था । रेडियो सीलोन से ‘सलोनी’ फिल्म का गाना आ रहा था—‘मेरी वीणा के सुर सात, रे !’ पर, कानजी सेठ के कानों में एक ही सुर गूँज रहा था—अन्दर चौके में सोनू की चूड़ियाँ खनक रही थीं....

रेडियो बन्द कर, कानजी सेठ कोकी-कोला के कलेन्डर के इंग्लिश अक्षरों को मन-हो-मन आगे-पीछे सरकाते हुए, सोनू की उमर का अन्दाजा लगा रहे थे....कोकी-कोला के कलेन्डर में ‘फ्रेन्डली पॉज’ के नीचे चित्र बना था, जिसमें सोनू से उम्र में बड़ी अधनंगी अंग्रेज बाला कोकी-कोला की बाटली दो अघट्टे के स्तनों के बीच में दबाए

थी, और उसका प्रेमी टेनिस का बल्ला हाथ में पकड़े हुए, हाथ को कोकी-कोला के बहाने उसके उरोजों की ओर, और होंठों को, उसकी दाँत-पाँती में दबे 'स्ट्रॉ' को लेने के बहाने, उसके होंठों की ओर बढ़ा रहा था। कानजी सेठ को ऐसे चित्रों से विशेष प्रेम है। उन्हें मालूम है, इसीलिए कंपनीवाले ऐसे फोटो देते हैं। माँ-बहन, बाप-बेटे या सास-बहू का प्यार कोई नहीं दिखाता, अपने कलेन्डरों में। पिछले साल उन्होंने बच्चों के लिए दूध के डिब्बे अमरीका से हिंदुस्तान को सप्लाई करनेवाली 'अपनी कंपनी' का 'कलेन्डर' देखा था। उसमें एक औरत और उसके सात बच्चे दिखाए गए थे। वह औरत सातवें बच्चे को ब्लाउज से एक स्तन बाहर निकालकर पिलाने की कोशिश कर रही थी, लेकिन वह बच्चा माँ के स्तन को लापरवाही से लटका छोड़कर 'कंपनी के दूध का डिब्बा' हाथों में पकड़े था— और नीचे लिखा था—

“मेरे सातों बच्चे इसी डिब्बे के शुद्ध, विटामिन-युक्त और पुष्टि-कारक दूध पर पले हैं, इसीलिए तो ये इतने हूष्ट-पुष्ट हैं!”—और उस सात बच्चों की माँ का ब्लाउज से बाहर निकला हुआ स्तन ठीक किसी अट्टारह वर्षीया अमेरिकन अभिनेत्री के पुष्ट उरोज जैसा, साँचे में ढला हुआ बनाया गया था।

कानजी सेठ को इस कंपनीवालों से खूब पैसा मिला है। हिंदुस्तान में इस कंपनी का सारा दूध कानजी ही सप्लाई कर रहे हैं, और देश को यों हूष्ट-पुष्ट बच्चे दे रहे हैं; हालांकि उनके अपने दोनों बच्चे भी इसी दूध पर पले हैं, और दोनों में से एक काना होता जा रहा है, और दूसरा हिजड़ा!—कानजी सेठ के विचार से गजा राम की रसवन्ती धरा में जन्म लेनेवाला नारियों के वक्ष ढीले

पड़ गए हैं, बच्चों को दूध पिलाने से ! इस डिब्बे का दूध बोतल से पिलाने पर देश के सिर से एक 'बड़ा खतरा' दूर हो जाएगा ! और हमारा देश 'उन्नत' होकर विश्व में आदर्श उपस्थित कर सकेगा । उनको अपनी धर्मपत्नी से बड़ी शिकायत थी, कि उसके उरोज तने नहीं रहते, सख्त नाशपाती की तरह ! इसका कारण बस यही तो था, कि उसने अपनी बेटी को अपना दूध पिलाया था !...यह दूसरी बात है, कि वह लड़की इतनी स्वस्थ है, कि अपने भाइयों को हाथ पकड़कर झटक देती है, तो वे घड़ी-भर जमीन से उठ नहीं पाते !

'कोकी-कोला' के कलेन्डर से हटकर, अब कानजी सेठ की दृष्टि सात बच्चों की माँ के कच्चे आम-से ठोस और सुडौल स्तन पर जमी थी और वह सोच रहे थे—इस बच्चे की जगह अगर वह होते, तो जरूर थाम लेते !

कानजी सेठ बिस्तर से उठे, और उन्होंने सात बच्चों की माँ के स्तन पर कई बार हाथ फेरा, स्तन पर हाथ फेरते समय अपनी 'सिलिपिंग शर्ट' की बाँह से वह उन दृष्ट-पुष्ट बच्चों को ढाँके रहते । फिर एकाएक उन्होंने सिरहाने के नीचे से एक पुस्तक निकाली जो कई 'कलात्मक चित्रों का अलबम' था । उसमें से एक चित्र उन्होंने फाड़ा, और फिर 'काल-बेल' बजाई ।

"क्या लाऊँ, सेठ ? नहाने का पानी रख दिया है गरम करते ।" चूड़ियों को खनकने से रोकती हुई सोनू बोली ।

मुसकराकर सेठ बोले—“इधर आ, एक फोटो देखेगी ?”

“किसका, बाई जी का है ?”

“नहीं !”

“तो बीबी जी का होगा, कालिज में खिंचाया होगा ?”

“नहीं !”

“तो ?”

“तू खुद देख ले,” कहकर सेठ जी ने फोटो सोनू के हाथ में थमा दिया । सोनू ने फोटो पलटकर देखा, तो पलटी ही रह गई—चौरासी आसन में से एक आसन था—लाज-भरी सोनू बरसात-भीगी गौरैया-सी ठिठकी-सिमटी रह गई । ऐसा फोटो क्यों दिखाया सेठ ने ?

कल ही सेठानी अपने मायके वीरमगाम चली गई थी । तब से सेठजी का रवैया सोनू के प्रति कुछ और था । पर, सोनू न समझी थी—उसकी नज़र में सेठजी उसके बाप से भी बड़ी उमर के थे । भगवान् बुद्ध के अनंत भक्त थे । देश की प्रसिद्ध पत्रिकाओं में धर्म-कथाएँ छपती थीं उनकी—कभी-कभी सेठजी पूजा कर रहे होते, तो सोनू का मन उन्हें ‘बापू’ कहने को होता था—उसे क्या खबर थी, यह ‘बापू’ अपनी विपैली फूत्कार उसी पर छोड़ेगा ? वह सहसा न कुछ कह सकी, न कदम बढ़ा सकी । उसने मुँह फेरे-फेरे फोटो सेठ की पलंग पर रख दिया । सेठजी ने एक बार फिर से सात बच्चों की माँ के ‘रीता हेवर्थ मार्का स्तन’ को देखा, और लपककर सोनू को अपनी बाँहों में भर लिया, और उस चौदह वसंत खिली कली के पावन अधरों पर अपने बावन पतभर सूखे-सड़े अपावन विष-दंत चुभो दिए—

भगवान् विट्ठल पांडुरंग की बेटी कराह उठी—“देवा, कुठे आहे तू ?” और उसके आँसुओं में उसके गाँव पंढरीपुर के पंढरीनाथ

डूब गए, जिन्होंने बचपन में उसे जहरीले नाग से बचाया था....पर, यह नाग तो और भी विषैला था, इसके विष-दंत तो और भी अपावन थे....

पंढरीनाथ के दाँए हाथ की अंगुली में सुदर्शन-चक्र घूम गया... और सोनू ने सेठीया के हाथ में दँतकाटी देकर, उसकी तोंद में एक कसकर लात मारी, सेठ जमीन पर बैठ गया हाँफता हुआ, तो उसके मुँह पर जी-भर थूककर, अपने होंठों पर धोती का किनारा ढाँपे, जाल से छूटी मछली-सा गोता लगा गई ।

कानजी सेठ की दृष्टि ऊपर उठी, तो फिर उनकी नज़र उन सात बच्चों की माँ के पयोधर पर पड़ी, और उन्होंने गुस्से से उस पर थूक दिया ।

°

°

°

वीरेन रेवा को इतने प्रगाढ़ आलिंगन में कसे था, कि रेवा की पसलियों में दर्द होने लगा था । उसके शरीर के जोड़-जोड़ आनंदावेग से शिथिल पड़ गए थे । पुरुष-प्रकृति का मिलन बड़ा ही तन्मय होता है । सृष्टा की इस बेजोड़ कारीगरी पर कौन अंगुली उठाए ? क्यों उठाए ?

बहुत हौले-हौले वीरेन ने अपने होंठ रेवा के अधरों से परे किए, हथेलियों में दबाकर, उसका लज्जारुण आनन ऊपर उठाया— “रेवा !” पर, लाज-दबी रेवा पलकें न उघाड़ सकी, आँखें मीचे ही वीरेन के वक्ष से चिपट गई ।

उसे लग रहा था, जैसे आज पहली बार वह किसी पुरुष के वक्ष से लगी है, जंसे केवल आज ही उसका कौमार्य पहली बार किसी के चरणों में अर्पित हुआ है ।

विट्ठल खड़ा-खड़ा टुकुर-टुकुर प्रगाढ़ आलिंगन-गुँथे वृक्ष-वत्तलरी को देख रहा था, और अपने मन के गुब्बारे में कामना-कल्पना की 'गैस' भर रहा था, कि 'शाम को अपन भी इसीच स्टाइल से बाई को चूमेगा ।'

रेवा, ठाकुर की बाँहों से अलग होकर, अन्दर को चली, तो जैसे उसके पैर में किसी ने मन-भर के पत्थर बाँध दिए हों। अन्दर जाकर ही रेवा अपनी पलकें पूरी उघाड़ सकी। ठाकुर का आलिंगन मधुर-मादक स्वप्न-सा अभी भी आँखों में तैर रहा था। रेवा ने कोने के कानस पर से आइना उठाया, और उसमें अपना चेहरा देखने लगी, तो गुलाबी दुपट्टे का एक छोर बाँए कपोल पर खिसक आया—और रेवा देखती रही—दाँया कपोल दुपट्टे से भी ज्यादा गुलाबी हो गया था।

रेवा के अन्दर जाते ही बीरेन हँस पड़ा। आनन्द-किन्नरी उसके होंठों पर भरत-नाट्यम् की शैली में नर्तन कर रही थी। जैसे रेगिस्तान की तपती लू में प्यास से छटपटाते राही के लिए खरबूजे का रस अमृत होता है—रेवा के अधरों का अमृत-पान कर, बीरेन एक नई ताजगी महसूस कर रहा था।

मौका देखकर, विट्ठल आगे आया—“राम-राम, भाई साहब !”

जैसे ब्रुक-बाँण्ड की ताजी उबलती चाय में किसी ने बासी, फटा हुआ दूध डाल दिया हो। बीरेन ने हाथ जोड़ दिए—“राम-राम, भाई !”

“आप हमारे को पहचाना ?” विट्ठल बोला।

“आप दादा के साथ काम करते हैं, इतना जानता हूँ !”

“बस, इतनाच बहुत है। अच्छा, आप जरा हमेशा बात सुनोगे ?

दादा ने हम कूँ भेजा है ।”

“दादा ने ? क्या कहा है उन्होंने ?”

“अभी आप जरा हमेरा साथ आओ ।”

वीरेन को विठ्ठल ‘बुआ घोड बोलेकर तलवलकर तुकाराम-सखाराम बुआयाँचे विश्रुंति-गृह’ तक ले आया । बोला—“चलो, चाय पियेगे !” वीरेन ने इन्कार किया, तो बोला—“बाई के हाथ का चाय च ऐसा होता है ।”

“क्या मतलब ?”

“मतलब ? मतलब कुछ नहीं । कितना अच्छा चाय बनाता है, हमेरा बाई ! आक्खा मुंबई में ऐसा टेसदार चाय कोई पण बनाच नहीं सकता है ! अच्छा, जरा आप हमेरे साथ तो आओ ।”

दोनों अन्दर जाकर बैठे, तो विठ्ठल ने पूछा—“मस्काब्रन तो खालेंगे ?”

वीरेन के मना करने पर बोला—“दादा भी ऐसाच बोलता था, कि हमेरा भाई साहब बड़ा शरीफ़ आदमी है । आप दादा का छोटा भाई है ना ?”

“मैं ? हाँ...हाँ, हाँ, वह मेरे बड़े भाई-से तो हैं ही ।”

“दादा भी यहीच कहता था । अभी हम आपको मतलब का बात कहेंगा...दादा की जमेनत का बन्दोबस्त करना है ।” विठ्ठल बोला—“वकील सा’ब केस लड़ने को संभर, दीड संभर...दो सौ रुपया माँगता है । कहता है, रखड़पट्टी का केस है ! हम कहता है, साला आक्खा दुनिया च रखड़पट्टी है । जो लोग साला, नमकहराम दादा का थूका चाटता था, अभी दादा के ऊपर मुसीबत गिरा, तो हरी भंडी बताता है...आई शपथ, साला क्या नमकहलाल जमाना

आया, रे ! दैवा……”

और उसकी आँखों में आँसू छलक आए—“दादा हमको आक्खा जिंदगी-भर बाप का माफ़िक परवरिश किया । अभी वो जेल में भजीया खाता होगा, दैवा……हम तो कल रात जाके बड़े साहब का पाँव पकड़ लिया, कि हमारे को फाँसी पर लटका दो, पर दादा को छोड़ दो……पर, हमेरी फरियाद कौन सुने ?……”

वीरेन सोच रहा था, इस बेचारे को कितनी श्रद्धा है उस दादा पर ?……और एक वह है, कि चौथे ही दिन उसकी बीबी के अधर चूम लिए……? रेवा का स्पर्श सुखकर और मादक था, पर वीरेन को लगा, उसने कुछ अनुचित हो किया । बोला—“दादा ने मेरे लिए कुछ कहा है ?”

“हम तो दादा को बोला था, ‘वो भाई साहब राजी भी होगा या नहीं, कुछ नक्की नहीं,’ तो दादा बोला, ‘वो हमारे ऊपर जिंदगी भी कुरबान कर सकता है । क्या, आई शपथ, दादा तुमरे को जिगर का टुकड़ा समझता है ।”

“उन्होंने क्या करने को कहा है मुझे ?”

उत्तर में, विट्टल ने, उत्तर-दक्खिन-पूरब-पच्छिम के नक्षत्र मिलाते हुए बताया कि फिलहाल सबसे जरूरी चीज़ रुपया है, और रुपया मिनटों में पैदा किया जा सकता है । बस, यहाँ से चर्चगेट तक कुछ शरबत सप्लाई करना होगा ।

“शरबत ?”

“हाँ, हाँ, शरबत !” विट्टल बोला—“मुंबई में इसे ‘लाल पानी’ भी कहते हैं और ‘लालपरी’ भी । हम तुमरे को बतलाता भी नहीं, परा तुम दादा का जिगरी दोस्त है ।”

इतना कहकर, दुकान के भाखड़े के नीचे से एक थैला निकालकर, विठ्ठल ने वीरेन के हाथ में पकड़ा दिया । बोला—“अभी सुबू-सुबू को एक ‘ट्रिप’ मारके आएगा, फिर शाम को ।”

वीरेन बोला—“भाई, मुझे यहाँ का कायदा-कानून कुछ मालूम नहीं !”

“कायदा-कानून को तुमरे को क्या तेल लगाना है !” विठ्ठल हँस दिया—“कहीं कोई ठोला हाथ फिराईंगा, तो हमेरा नाम लेना । अंधेरी वरून चर्चगेट-बोरीबन्दर पर्यन्त आक्खा ठोला भाई हमरे को जानता है ।^१ पण, तुम घबराता काहे को ? अपन भी तुमेरा साथच है ।”

अंधेरी के प्लेटफार्म न० २ पर चर्चगेट जानेवाली गाड़ी खड़ी थी । लोग गाड़ी में भर रहे थे । ट्रेन स्टार्ट होने में अभी कुछ विलम्ब था । विठ्ठल वीरेन को अन्दर बिठा आया—“अभी तुम जरा सबूर से बैठो, भाई साहब, अपन एक कोप चा और पिएगा ।”

वीरेन को भाजी-पालेवाले छोटे डिब्बे में बिठाया था विठ्ठल ने ।

बाहर आकर, उसकी बिल्ली-सी आँखें हवलदार दाँडेकर को खोजने लगीं । दाँडेकर भी उसी की प्रतीक्षा कर रहा था । विठ्ठल के ‘राम-राम का जवाब अपनी सी० आई० डी०-मार्क आँखों से देते हुए, दाँडेकर ने पूछा—“नया पंछी है, पुराना खड़ूस है ?”

“हवलदार, एकच खड़ूस है !” विठ्ठल बोला—“हमेरी आँखी के सामने पिछली तीन बरस से दारू सप्लाई कर रहा है, पण चेहरे से ऐसा लगता है, जैसे मुंबई में नवीनच आया है ! कइसा क्या,

शपथ पांडुरंगाची, हमारे को पूछता था, इधर ठोला लोग तो नहीं घूमता है, जरा देखके आओ । क्या हौलदार, इसका आक्खा कुटुम्ब दारू सप्लाई करता है । इसका बाई भी इसका माफिकच हुसनदार है । वो क्रिस्तान बनकर, पर्स लेके चलता है—उस पर्स में, अभी तुमरे को क्या बोले, तीन बाटली दारू आता है । कोई पुलिसवाला हाथ फिराने को देखा, तो नज़र मिला के चालू पड़ जाती है । क्या हौलदार, हुसन के आगे कोई कानून नहीं चलता !”

“कोई बात नहीं, देखता हूँ बेटा आज कैसे बचता है ! कितना बाटली है ?”

“पाँच,” विट्ठल बोला—“प्यूअर है । चर्चगेट ले जाकर, पाँच बाटली पानी मिक्स करेगा ।”

इतने में गार्ड ने सीटी दी । दांडेकर फुर्ती से डिब्बे की ओर दौड़ा और लोहे की छड़ पकड़कर चढ़ गया ।

पन्द्रह

रेवा का मन बार-बार बाहर आने को छटपटा रहा था । पर, जमीन जैसे उसके पाँव पकड़े बैठी थी । आज नवोढ़ा की-सी लाज उसे क्यों एक मधुर मूर्च्छना में बाँध रही है, वह समझ नहीं पा रही थी । पूरे चार-पाँच महीने उसने वेश्या-जीवन बिताया था । कच्ची-पक्की उमर के सैकड़ों पुरुषों के साथ सोना पड़ा—पर आज की-सी लज्जा ?...और फिर वीरेन ने तो उसे केवल चूमा-भर था ।

अकारण ही रेवा के होंठों पर हँसी थिरक गई । चाय का कप लेकर, आने का बहाना लिए, बाहर आई—तो वीरेन न था वहाँ । सोचा, कहीं शौचादि को शायद गए हों । पर, जब प्रतीक्षा में बैठे-बैठे घड़ी-भर का समय पानी में कंकर-सा डूब गया, तो रेवा बेचैन हो गई ।

यों दुपहरी के बारह बज गए, वीरेन न लौटा ।

खाना बड़े प्यार से बनाया था रेवा ने, पर ढँका ही रह गया । रेवा के मस्तिष्क में विविध विचार पत्थर-से मार रहे थे । फिर उसे दादा का ख्याल आया—अगर दादा की जमानत हो गई ? ...वह घर लौटे और कभी ठाकुर को उसके साथ प्यार करते देख लिया तो ?

रेवा ने विचार किया था, संध्या समय अलीबख्श के कदमों पर सिर रख देगी—कि अब कैसे भी दादा की जमानत करवा दो ! ...पर अब उसने यह विचार छोड़ दिया । वह दादा से डरती थी, दादा का आदर करती थी—पर, अब दो में से एक को उसे चुनना था, और वह एक ठाकुर ही हो सकता है...

लेकिन ठाकुर कहाँ गए ?

रेवा ने ठाकुर की खाट पर गौर से देखा, तो एक ओर कुछ कागज पड़े थे । उनमें तीन लिफाफे थे, जो बंद थे और जिन पर संपादकों के पते लिखे थे, और इधर का पता लिखा था—१३६, मुंगरापाड़ा, अंधेरी, बंबई । एक कापी पड़ी थी, जिस पर एक गीत अधूरा ही लिखा गया था—

सखि, लागे नयना लाज, री !

कहाँ छुपाऊँ, अनजाने सरके आँचल की लाज, री !

सखि, लागे नयना आज, री !

अपनी ही साँसों का सरगम जादू-सा कुछ फेर गया,
बिन कारन नाचे मन-मीरा, कौन बंसुरिया टेर गया ?

वयों उघड़ी थी पलक-पाँखुरी, बिन कारन, बिन काज री ?

सखि, लागे नयना आज, री !

अधर-द्वार हैं बोल-पाहुने, नयन-अटरिया लाज खड़ी,
वल्कल-वसना जोगन-सी सुधि आँचल खींचे घड़ी-घड़ी,

बिखरा

गीत पढ़कर रेवा का मन मीठा हो आया । कितना मधुर गीत है ! उसने अन्दर से पेंसिल लाकर आगे कुछ लिखा और कापी तकिए के नीचे रख दी । फिर चौराहे तक आकर चिट्ठियाँ लेटर-बॉक्स में डाल, चारों ओर नजर फिरा गई, पर मन का चितेरा कहीं दृष्टि-गोचर न हो सका ।

पर, रेवा को विश्वास था—ठाकुर उसे छोड़कर न चले जाएँगे । उसने बिस्तर भाड़कर तह की, तो ठाकुर की टोपी नीचे गिर पड़ी । टोपी की गर्द भाड़ने लगी, तो तुलसी-पत्र नीचे गिर पड़ा—रेवा ने उसे सहेजकर अपनी बेगी में रख लिया । आँखों में आँसू भर आए । आज उसने तुलसी को जल नहीं चढ़ाया था । रेवा ने कलई का लोटा धोया, पानी भरा

०

०

०

स्वामी विट्ठल की प्रतीक्षा कर रहा था ।

पिचन्ना को उसने समझा-बुझाकर डीसोजा के यहाँ भेज दिया था । डीसोजा ने, 'हाउ टू किस' की ट्यून् सीटी पर बजाते हुए, उसकी कमर में हाथ डालकर उसे नचाया, फिर 'तारारी-तारारी-तारारी' करते हुए, 'कभी आर, कभी पार लगा तीरे-नजर' गुनगुनाते हुए, उसे जोर से खाट पर धकेल दिया । पिचन्ना ने अपने होंठों पर से डीसोजा का थूक पोंछा और लपककर बिजली-सी बाहर को दौड़ गई । डीसोजा उसे देखता रह गया—क्या हो गया छोकरी को ? वह सकते की-सी हालत में खाट पर बैठा रह गया ।

विट्ठल आया, तो स्वामी ने पूछा—“विठुवा ?”

प्रश्न को समझकर, विट्ठल ने दाँई आँख का सिगनल दिया—

“अभी रोड किलियर कर दिया, वस्ताद ! दाँडेकर ने उसको मेरे सामनेच पकड़ लिया था । उसकी क्या चंपी बनाया, वस्ताद—अभी, आई शपथ, तुमेरे को क्या बोले, हमरे आँख में भी आँसू आ गया…” हम हौलदार को बोल दिया, ‘इसका बीबी पण ऐसाच हुसनदार है !’ क्या, वस्ताद—हवलदार ‘टेस’ में आ गया था । अभी उस परदेशी से उसके भोंपड़े का पता पूछता होगा !…ही-ही…क्या, हम भी एकच टिंगलवाज है !…ये हौलदार लोग खूबसूरत बाई लोग को देखकर ‘टेस’ में आ जाता है” पण, वस्ताद, सच्ची बोले तो दुनिया में हुसन चीज ही ऐसा ‘टेसदार’ बनाया खुदा ने । गया अठवाडिया हम पिल-हाउस पर ‘आन’ देखा था, उसमें हुसन के ऊपर क्या टेसदार लावनी लिखा था, ‘पत्यर का जिंगर पानी कर दे,’…ये फिलम का डीरेक्टर लोग भी लावनी लिखने में एकच वस्ताद होता है !”

रवामी को विट्ठल की बातों में विशेष आनन्द नहीं आ रहा था । उसकी आँखों में बस तूर थी, उसका गुलाबी दुपट्टा था, आँसुओं से तर कपोल थे…

विट्ठल कहता रहा—“क्या, वस्ताद, अभी जिस परदेशी को हम मुर्गी बना के आया, वह भी लावनी लिखनेवाला था । दादा कहता था, वो फिलम लैन में लावनी की डीरेक्टरी करेगा…ही-ही…क्या, अभी लॉक-अप में गोल्ड फलेक का खाली डिब्बा बजाएगा…पण, अभी हम सोचता है, वस्ताद, कम-से-कम उसका एक-दो लावनी तो सुन लिया होता ? सुना है, फिलम लैन में लावनी का डीरेक्टर लोग ज्यास्ती करके परदेशी लोगच है !”

स्वामी चुपचाप सूरज को आगे सरका रहा था ।

विट्ठल बोला—“चलो, वस्ताद, बाई अभी खाट पर लेटा

होगा !”

स्वामी बोला—“जरा सबूर कर, शाम होने दे । चल, पहला अपन होटल में मटन-चाप दबा के आएगा ।”

मेन्शन की खिड़कियों में लगे काँच की तरह, अपरान्ह की धूप में, कानजी सेठ का मस्तिष्क भी तपा हुआ था । उन्होंने पारकर पेन से एक कागज पर क्रॉस बनाया, और नीचे दो लाइनें लिखीं, फिर कागज लिफाफे में बन्द किया—

अन्ना स्वामी, १४७-मुंगरापाड़ा, अँधेरी, बम्बई ।

प्रतीची प्राची की सौतन बनी थी—बूढ़े सूरज को उसने अपने प्रगाढ़ आलिंगन में कस लिया था—भास्कर की बूढ़ी हड्डियाँ प्रतीची के उन्मद-आलिंगन से चटक रही थीं, और वह उससे परे चला जाना चाहता था—तब प्रतीची ने आक्रोश में आकर चद्रमा से आँखें मिलाई, जैसे वृद्ध पति की युवा पत्नी अपने देवों पर डोरे डालती है ।

विट्ठल और स्वामी ने अपनी स्कीम पक्की कर ली थी, कि विट्ठल उसके मुँह में कपड़ा ठूँसे रहेगा और स्वामी उसके हाथ-पाँव बाँध देगा, फिर आसानी रहेगी, नहीं तो कहीं वह चिल्ला-चिल्लाकर मुहल्ले-भर को इकट्ठा न कर ले !...विट्ठल की राय थी, औरत के साथ पहली बार जबरदस्ती ही कामयाब होती है । फिर तो वह चखी हुई खीर हो जाती है कि इन्कार नहीं कर सकती ।

रेवा की सिसकियाँ अभी रुकी न थीं । तभी उसने साँकल खड़-खड़ाने की आवाज सुनी । बावली-सी बाहर दौड़ी आई कि ठाकुर होंगे !...पर, बाहर विट्ठल और स्वामी खड़े थे । जैसे भी थे, इस

समय वे ही लोग मददगार हो सकते थे ।

आँसू पोछकर, बोली—“दादा की जमानत का कुछ हुआ ? आज तो ठाकुर साहब भी सबेरे ही न मालूम कहाँ चले गए ?”

“जाएगा कहाँ, कहीं दूसरी जगह अड्डा ढूँढने चल दिया होगा । ये परदेशी लोग बड़े चिटिंगबाज होते हैं । अभी तुमरे को क्या बोले, कुछ माल-पानी लेके तो गोल नहीं हुआ ?” विट्ठल बोला ।

“नहीं तो,” रेवा बोली—“सामान तो उन्हीं का यहाँ पड़ा है । वह तो बड़े अच्छे……”

“उड़ता पंछी खूबमूरतच लगता है, बाई !” विट्ठल बोला—
“आई शपथ, अभी तुमरे को क्या बोले, ये परदेशी लोग होताच ऐसा हलकट है । कली का रस चूसकर चालू पड़ जाता है, कईसा क्या !”

“क्या बकता है ?” रेवा चीख-सी उठी ।

“अभी हमरे को पट्टी मत पढ़ाओ, बाई !” विट्ठल अपनी ही बहक में था—“भँवरे को रस लेते हम अपना आँखी से देख लिया । उड़ते भी…क्या करेगा, पांडुरंगाची शपथ, साले को उड़ते नहीं देखा—नहीं तो एक ही ठोंसे में……”

स्वामी ने विट्ठल का हाथ दबा दिया । बोला—“बाई, कईसा भी हो, आखिर अपना पड़ोसी लोगच अपना होता है । अभी हम लोग दादा की जमानत के वास्ते आक्खा दिन रखड़पट्टी में रहा । जमानत का जुगाड़ लग गया है, दादा ने तुमरे को दो बात बोलने को कहा है, जरा साँकली खोलो……”

रेवा इन्कार न कर सकी । साँकल न खोलकर, उन पर अपना बेकार का शक जाहिर न करना चाहती थी, दूसरे विट्ठल ने उसे ठाकुर के साथ आलिंगन-बद्ध देख लिया था, कहीं दादा से न कह दे…

उसके हाथ काँप गए, साँकल खुल गई...

इंस्पेक्टर दाँडेकर डिब्बे में चढ़ तो गए, पर भीड़ होने के कारण उस छोटे-से डिब्बे में सरकने को भी राह न थी । दाँडेकर अपनी निगाह बराबर वीरेन के चेहरे पर जमाए हुए थे । अट्ठारह साल की लंबी सर्विस उनके पीछे थी । अपराध-वृत्तिवालों के चेहरे के उतार-चढ़ाव को परखने में वह कानी आँख रखते थे । सोच रहे थे, विठ्ठवा साला ठीक ही कह रहा था, कि चेहरे से शरीफ लगता है । पर, यह तो शरीफ ही नहीं—इसका चेहरा तो ऐसा लगता है कि जैसे यह चाहने पर भी गुनाह न कर सकेगा !...और विठ्ठवा कहता था, इसकी बाईं भो ऐसीच हुसनदार...

एक सिंधी परिवार को विलेपालें उतरना था, इसलिए वे लोग अपनी बाल्टी-गादली सरकाते हुए कह रहे थे, “अरे, साईं, जरा पीच्छूँ हो जाओ,” और ‘पीच्छूँ’ होने की जगह, टाटा स्टील कम्पनी के एक बाबू आगे सरककर सिंधी की जवान लड़की के वक्ष से अपनी पीठ चिपका रहे थे । छोकरी माँ का मुँह ताक रही थी । माँ ने बाल्टी पर दाँए हाथ के अंगूठे से तीन पुटके मारे और छोकरी ने मुसकराते हुए बाबू की पीठ पर चिकोटी काटते हुए सिगनल डाउन कर दिया—विलेपालें सिंधी परिवार के साथ बाबूजी भी नीचे उतर गए, हालाँकि उन्हें दस बजे अपने ऑफिस ‘बाम्बे हाउस’ पहुँचना था । सिंधी दंपति अपना सामान ठीक कर रहे थे, और लड़की बाबूजी को साथ लिए टी-स्टाल तक जा पहुँची थी और केक-चाय का आर्डर दे रही थी ।

विलेपालें कुछ लोगों के उतर जाने से दाँडेकर सहज ही वीरेन

के पास पहुँच गए। उन्होंने हाथ वीरेन के पुट्टों पर रखे और आँखें चारों ओर दारू का डिब्बा खोजने लगीं—“क्यों बे, किधर रक्खा है?” वीरेन इस अप्रत्याशित प्रश्न से सकपका-सा गया। उसकी आँखें कोने की ओर गईं, पर दारू का डिब्बा वहाँ न था—सिधी दम्पति उसे अपने सामान के साथ खींच ले गए थे।

निस्प्रयोजन ही कोई उससे ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता—वीरेन ने सोचा। बोला—“आप मुझसे कुछ पूछ रहे हैं?”

यह प्रश्न इतना स्वाभाविक था, कि दाँडेकर सहसा कुछ कह न सके। वीरेन की बड़ी-बड़ी आँखें उनकी ओर उठी हुई थीं, और उनमें भाँकते हुए दाँडेकर यह महसूस कर रहे थे, वह खुद गलती में हैं। कहीं विठुवा साले ने ‘बनाया’ तो नहीं? फिर उन्हें याद आया—आज पहली अप्रैल है। ‘अप्रैल-फूल’ बना गया साला—ये तीन कौड़ी के पाजी भी कभी बड़ा ‘इन्टेलीजेंट जोक’ कर जाते हैं!...दाँडेकर की नज़र से सिधी छोकरी और टाटा स्टील कंपनी के बाबू का रोमांस छिपा न था। दाँडेकर हृदय से साफ आदमी हैं, खासकर जब उन्हें अपने बीते रोमान्सों की याद आती है...

“सुना है, तुम्हारी बीबी भी तुम्हारी तरह खूबसूरत है?” और अपने इस अटपटे प्रश्न पर भेंपकर, दाँडेकर सांताक्रूज उतर गए। वीरेन भौंचक्का-सा उन्हें देखता रहा। उसकी समझ में नहीं आ रही थीं ये अजीबोगरीब हरकतें!

ट्रेन चली जा रही थी...

वीरेन सोच रहा था, यह चलने का क्रम भी बड़ा विचित्र है! उसने आँखें मूंद ली थीं। सोच रहा था, चर्चगेट स्टेशन पर उतरने पर विट्ठल ने डिब्बा अगर माँगा तो? कह देगा, कोई पुलिसवाला

उठा ले गया । और अगर उसने पूछा—“तुम्हें तो नहीं ले गया !”... मैं एक ओर अलग बैठा हुआ था !....

समय की पटरी पर उसकी जीवन-ट्रेन दौड़ी जा रही है—वीरेन सोचता रहा—न कोई निर्दिष्ट दिशा है, न कोई आखिरी स्टेशन ही, जहाँ गाड़ी रुके...और फिर यह चलती ट्रेन है...कहीं भी रुक सकती है, एक्सीडेंट हो सकता है...एक्सीडेंट हो रहा है...गाड़ी लड़खड़ा रही है...पहिए पटरी से नीचे उतरे जा रहे हैं...जंजीर खींची जा रही है...सीटि।ँ बज रही हैं...

वीरेन का सिर भारी हो चला था ।

केवल गम हो, ढोया जा सकता है । केवल खुशियाँ हों, मन-मयूरी नाच-नाच उठती है, पर जहाँ खुशियों का एक निर्मल-स्रोत कल-कल करता बह रहा हो, और उसकी राह में एक बहुत बड़ी चट्टान आकर अड़ गई हो...वहाँ कोई क्या करे ? दुःख के साथ खुशी का बोझ कैसे ढो सके कोई ? मुसकराहट की उस चाँदनी का अस्तित्व क्या, जो हर किरण पर एक काला बादल लादे आ रही हो ?

दादर आकर, वीरेन ने डिब्बा बदल लिया । विट्ठल को उसकी दृष्टि खोज रही थी । पर इस भीड़ में कहाँ दिखेगा ? चर्चगेट पर ही मिलेगा । और वीरेन फिर सोचता रहा...अतीत की धुँधली दिशाएँ भविष्य की अनिश्चित पगडंडियों से गले मिल रही थीं...और वीरेन सोच रहा था—विडम्बनाओं से जब विडम्बनाएँ गले मिलती हैं, तो क्या होता है ? ...काँटे काँटों के गले से मिलें, तो क्या होता है ? काँटे फूल के गले मिलें, तो क्या होता है ? ...मिलन से एक नई चीज का जन्म होता है, यह तो ध्रुव सत्य है, पर वह मिलन प्रकृति-पुरुष का हो तब न ? सुख से सुख, दुःख से दुःख का समन्वय पुरुष-

पुरुष या प्रकृति-प्रकृति का मिलन है...अधिक से अधिक बंध्या स्त्री से स्वस्थ वीर्य पुरुष या नपुंसक से पुष्ट रज रमणी का...सत्य-सत्य कोई नई चीज़ नहीं ! दूध में दूध डालने से कोई नई चीज़ नहीं बनती... सत्य से झूठ का, दूध से चावल का, सुख से दुख का सम्मिलन होना चाहिए...तभी नई चीज़ बनती है, फिर वह चाहे वर्ण-शंकर ही क्यों न हो ?...

एक नई चीज़ का जन्म...एक नई दिशा का बोध...एक नए पथ का निर्माण...एक नई जिदगी की शुरुआत...और देर तक वीरेन भविष्य की धुंधली-कंकरीली पगडंडियों पर अपने उन चरण-चिन्हों को निहारता रहा, जो कभी उसके चलने से अंकित होंगे...कभी भी सही...

आशा सदैव गर्भिणी रहती है !

बाँदरा के मच्छर खिड़की में मिनक रहे थे, और एक क्रिश्चियन युवक मच्छर भगाने के बहाने अपनी डालिंग के वक्ष पर हाथ फेर रहा था। वीरेन को बुरा नहीं लगा। प्यार का भी कोई समय होता है ? प्यार की लालसा मानव-मन की तीव्रतम ही नहीं पवित्रतम अनुभूति है। जिनके मन में मोन-मेख है, जिनके जीवन में प्यार के वाक्य में जल्दी ही विराम-चिन्ह लग गया है—वे इसी बात को दूसरी निगाह से देखते हैं। वे औरत की मुसलमानी के लिए 'बुरका' जरूरी समझते हैं।

आलिंगन के मधुर-मादक क्षण कौन भुला पाता है ? वीरेन को याद आई बचपन की। एक बूढ़ी बंदरिया को उसने मार दिया था। पत्थर ठीक उसके सिर में लगा था...इतने में लालपोकिया बन्दर, जो उसका जीवनाधार रहा होगा, उछलता-कूदता आया था, और

बंदरिया के माथे को चूमने लगा था...और फिर उसके नेत्रों में प्रति-
हिंसा की धधकती ज्वाला देखी थी, वीरेन ने...पूरे तीन फर्लांग तक
उसने वीरेन को खदेड़ा था, और पैर में दाँत मार दिया था...लोगों
ने कहा था, “ये लालपोकिए बानर होते ही दुष्ट हैं !”

आज वीरेन सोचता है, दुष्ट तो प्यार के क्षणों में व्यवधान
उपस्थित करनेवाला होता है। कल अगर कभी दादा भी प्रतिहिंसा
की ऐसी ही ज्वाला आँखों में लिए उसके सामने आया, तो ? लाल-
पोकिया बानर से तो वह और भी खतरनाक सिद्ध होगा !

और रेवा है...जो उसके तन-मन में फूल-पाँखुरी की सुवास-सी
बस गई है ! रेवा को अलग करने का अर्थ होता है—फूल से पाँखुरी
को परे करना...पाँखुरी से गंध को परे करना...

क्या यह संभव है ?

“रेवा...” वीरेन अपने होंठों में ही बुदबुदाया। उसके होंठों में
प्यार अभी भी गुलाब के फूल-सा महक रहा था...काश, यह महक
हमेशा योंही होंठों में बसी रह सके !

हर फूल महकना चाहता है...हर इंसान जीना चाहता है...हर
जिंदगी मुसकराना-मटकना चाहती है...फूल की महक काँटों की चहार-
दीवारी लाँघने पर उपलब्ध होती है...प्यार की महक जीवन में
गतिरोधों की चहारदीवारी लाँघने पर ही मिलनी संभव है...काँटों
से परे फूल का, संघर्ष से परे जीवन का कोई मूल्य शाश्वत नहीं है !

वीरेन सोचता रहा। उसके स्वप्नों को जैसे सोचने से ही साकार
रूप प्राप्त होगा ! विचारों की दृढ़ता कृतित्व से पूर्व ही अपेक्षित
होती है—युद्ध-क्षेत्र में जाने से पहले शस्त्र-कवच सँवारने पड़ते हैं !...
रेवा के लिए, अपनी उस जिंदगी के लिए, जिसमें रेवा के प्यार की

१७२/बोरीवली से बोरोबन्दर तक

महक हो, आखिरी साँस का अर्घ्य भी संघर्ष की वेदी में स्वाहा का धूम्र-वितान तानेगा...वीरेन ने मुट्ठियाँ भींच लीं और चर्चंगेट के फाटक से बाहर निकल गया ।

अन्ना स्वामी ने अन्दर पहुँचते ही रेवा को अपनी बाँहों में भर लिया, रेवा चीखकर परे हो गई । स्वामी ने इशारा किया, तो विट्ठल ने अपने गले में लपेटा हुआ, बदमाशी का ट्रेडमार्क, लाल रुमाल निकालकर हाथ में ले लिया...रेवा दीवार के सहारे खड़ी हाँफ रही थी, उसे कुछ सूझ ही नहीं रहा था...एक ओर विट्ठल था, दूसरी ओर अन्ना स्वामी...दोनों की आँखों में वासना के शोले धधक रहे थे...रेवा आनख-लटी पंखहीन कपोतिनी-सी थरथरा उठी...सामने खिड़की से तुलसी के चरण दिख रहे थे...कोने में पड़े वासुदेव के भी केवल चरण ही दृष्टिगोचर हो रहे थे...रेवा ने चाहा कि द्रौपदी के चौर-बढ़ैया वासुदेव के चरणों पर गिर जाए, लाज रखे—लुटाए—उसकी इच्छा !...मुसलमान की बीबी बनकर भी, आत्मा की प्रबलतम आस्था-श्रद्धा के साथ जिसके चरण पूजती रही, वह न लाज रखेगा ?

पर, तभी स्वामी ने आगे बढ़कर उसे फिर बाँहों में भर लिया—रेवा फिर चीखकर परे हटी, उसकी आँखों-आगे अंधकार बढ़ रहा था । आँसुओं से उसके ज्योति-विन्दु ढँक गए थे...वह दौड़ी...वह दौड़ी...और काँपते हाथों से विट्ठल के पाँव पकड़ लिए—“विट्ठल !”

विट्ठल को लगा, उसके पाँवों पर पृथ्वी का सारा बोझ पड़ गया है । इस बोझ को सँभालने के लिए, उसे अपनी दस चरणगुलियों को शेषनाग के सौ सिर बनाना होगा...जैसे उसकी एक-एक अँगुली

पर एक-एक हिमालय रख दिया गया था। और रेवा के आँसू बह रहे थे कि जैसे गंगा-यमुना विट्ठल के अपावन नखों को धो रही थीं...रेवा सिसक रही थी, कि जैसे सारी धरती विट्ठल के चरणों में माथा रखे करुण क्रंदन कर रही थी...और यह एक क्षण विट्ठल को सृष्टि-विनाश का संधि-काल-सा प्रलयंकर लग रहा था...यह एक क्षण था, विट्ठल के अंतस में धरती-पाताल एक हो रहे थे...

विट्ठल के मानस में प्रलयंकर आँधी उठ रही थी, सारी पृथ्वी शरणार्थिनी बनी उसके चरणों पर पड़ी थी, महानता का इससे बड़ा मुकुट और कब बाँधेगा माथे...?

“स्वामी !”...बिजली कड़क उठी। विट्ठल के बाँए हाथ में रामपुरिया छुरा नागिन-सी जीभ लपलपा रहा था—दाँए हाथ से उसने रेवा को एक ओर कर दिया।

स्वामी क्षण-भर तो किंकर्तव्यविमूढ़-सा रह गया, फिर कड़ककर बोला—“परे हट जा, विठ्ठल ! कुत्ते के मुँह से हड्डी छीनना ठीक नहीं...”

विट्ठल हटा नहीं, बोला—“आई शपथ, वस्ताद, जिंदगी में पहली बार माँ की सच्ची शपथ खा रहा हूँ...कसम खुदा की, आगल आना नहीं !”

“क्या करेगा ? साला, हलकट...निमकहरामी करता है ? साले, यह तेरी माँ लगती है ?...हट जा परे...खुदा कसम...” और स्वामी के दाँए हाथ में भी चाकू की तेज धार चमक रही थी।

विट्ठल नहीं हटा। स्वामी आगे बढ़ आया...दोनों के हाथ ऊपर उठे...कोई कराहड़ा उठा...

बड़ी देर तक प्रतीक्षा करते रहने पर भी, विट्ठल कहीं दिखाई नहीं दिया, तो वीरेन के मन में एकाएक शंका उपजी, कहीं वह उसे चकमा तो नहीं दे रहा था ? ... इस प्रश्न के मस्तिष्क में उभरते ही, विट्ठल के प्रति विश्वास का पर्दा जैसे एकबारगी ही फट गया । पर्दे के उस ओर वीरेन को रेवा का आँसू-भीगा चेहरा दिखाई देने लगा ... और, कुछ ही फासले पर, विट्ठल और स्वामी की मतलब-भरी आँखे अँधेरे में जलती हुई डाकुओं की मशालों-सी दिखाई दीं ...

और वीरेन को महसूस हुआ, उसकी भाग्य-रेखा को कहीं कोई 'तिर्यक' रेवा काट रही है । उसे याद आया, दादा-जैसा व्यक्ति किसी भी अवस्था में उसे दारू सप्लाई करने की राय नहीं दे सकता । उसे इंस्पेक्टर दाँडेकर का चेहरा, उस चेहरे का उतार-चढ़ाव याद आया ... क्या विट्ठल ने जान-बूझकर यह साजिश की थी ?

स्टेशन के बाहर झाड़ू लगानेवाला उसे कह रहा था—“जरा रास्ता किलियर करो, बाबू !”

और वीरेन परे हटकर सोचता रहा, कहीं विट्ठल और स्वामी ने भी राह का रोड़ा समझकर तो उसे परे नहीं किया ? इस प्रश्न के मस्तिष्क में उठते ही वह स्टेशन के अन्दर की ओर दौड़ा ...

पर, टिकिट ? टिकिट को पैसे उसके पास नहीं थे । केवल दो-तीन आने जेब में पड़े थे, बस ! और इस समय बगैर टिकिट चलने में खतरा था । कहीं पकड़ा गया, तो विलम्ब हो जाएगा । फिर कहीं दो-चार दिन की सजा हो गई तो ? ... तो क्या पैदल चला जाए ?

भूख से उसका पेट कुलबुला रहा था । मनुष्य अपना गला घोंट सकता है, लेकिन भूख का गला नहीं घोंट सकता । भूखे रहकर किसी आदर्श-पूर्ति की बात जो करते हैं, सरासर ढोंग करते हैं, झूठ बोलते

हैं। यह ठीक है कि उत्तेजना और आवेग के क्षणों में भूख दबी रहती है, पर कब तक !

संध्या के चार बज गए थे। वीरेन ने पैदल ही चलने का निश्चय किया और टी-स्टाल से दो आने की नमकीन खाकर, पानी पीकर, चलना शुरू किया। पर, मरीन लाइन्स आते-आते, उसे अपनी मूर्खता का आभास मिला—इस तरह तो उसे राह में ही रात हो जाएगी !

और वह फुर्ती के साथ मरीन लाइन्स स्टेशन के अन्दर घुस गया। गाड़ी अभी आई न थी। वीरेन ने घड़ी देखी, सवा पाँच बज चुके थे। वह होंठों में ही कुछ बुदबुदाया और हारे हुए जुआरी की-सी खीज के साथ बेंच पर बैठ गया। ट्रेन आने में अभी दस मिनट थे। इतने में उधर की ओर एक 'टिकिट-मास्टर' आता दिखाई दिया। वीरेन का मन सिहर-सा उठा, टिकिट-मास्टर बिना उसकी ओर देखे ही पेशाब-घर में घुस गया। एक छुटकारे की साँस लेकर, वहाँ से उठकर, वीरेन दूसरी बेंच पर जा बैठा, और विचारों की भंभावात में उसका मन नीड़-भूले पंखी-सा फड़फड़ाने लगा।

“ए, मिस्टर, जरा टिकिट दिखाना !”

वीरेन विस्मयाभिभूत उसे देखता ही रह गया। वह वही मास्टर साहब थे—जिन्होंने एक दिन उसे दादर में, बम्बई आने के दिन पकड़ा था और छोड़ दिया था। वीरेन शर्म के मारे बेंच पर कील-सा गढ़ गया। मास्टर बोले—“अरे, तुम हो भाई ? क्यों, क्या आज भी टिकिट ‘साहब’ के पास ‘फर्स्ट क्लास’ के डिब्बे में रह गया है ?”

वीरेन से कुछ कहते न बना, तभी मास्टर ने कहा, “चलो, मेरे साथ।” वीरेन ने हाथ जोड़ दिए—“मास्टर साहब, अपनी गलती

के लिए मैं लज्जित हूँ, पर आज भी आप मुझे छोड़ दें, यह अहसान न भूलूंगा। मेरा अंधेरी पहुँचना जरूरी है।”

“तो,” मास्टर हँस दिए—“मैं तुम्हारे अंधेरी पहुँचने का बन्दो-बस्त कर दूंगा।” वीरेन टिकिट मास्टर का मुँह देखता रह गया। सामने स्टेशन मास्टर के रूम में ‘नो एडमिशन, विदआउट परमिशन’ की तख्ती लटकी हुई थी। वीरेन के हाथ-पाँव जैसे लकवे की लपेट में आ गए हों। उसकी आँखों में रेवा की तस्वीर थी—आँसुओं के चौखट में जड़ी हुई और वे मधुर आलिंगन-क्षण मोती बने किनारे-किनारे स्फटिक शिलाओं-से पड़े थे।

“रोते हो?” मास्टर ने कहा।

वीरेन ने आँखें खोलकर देखा तो स्टेशन मास्टर के रूम में नहीं, टी स्टाल पर खड़ा था। उसने कृतज्ञता के भाव से मास्टर की ओर देखा—मास्टर मुसकरा-भर दिए। कुर्सी पर बैठने का इशारा किया। जब वीरेन बैठ चुका, रेस्तराँवाले से बोले—“इराणी सेठ; दो स्पेशल चाय और थोड़े बिस्किट भिजवाना।” फिर वीरेन की ओर रुख कर बोले—“तुम्हारा नाम मैं भूल गया, भाई, क्या बताया था तुमने? बालकृष्ण, बलदेव—कुछ ऐसा ही तो था?”

“जी, वीरेन है मेरा नाम।”

“हाँ, तो वीरेन,” मास्टर बोले, “आज मैं तुमसे बातें करना चाहता हूँ।”

“जी।”

“पहले चाय पी लें, फिर तुम जरा मेरे साथ चलो।”

चाय पीने के बाद, वीरेन को मास्टर अपने साथ बाहर ले आए। बोले, “देखो, वीरेन, उस दिन भी जब मैंने तुमको पकड़ा था,

तुम्हारे चेहरे से ही मैं ज्यादा प्रभावित हुआ था । इसलिए नहीं कि तुम हृद से ज्यादा खूबसूरत या स्वस्थ नौजवान हो, बल्कि इसलिए कि तुमने मेरे बीते दुःखों के इतिहास के पन्ने पलट दिए थे...मेरा एक भाई था, राजेन्द्र था उसका नाम । ठीक तुम-सा, कम बोलनेवाला, बात-बात पर नज़र नीचे झुकाए रहनेवाला...आँखों में हमेशा पीड़ा की एक तस्वीर रहती थी उसके..."

मास्टर की आवाज भारी हो चली थी । कुछ क्षण ठहरकर बोले—"हम तीन प्राणी थे घर में—बहन, छोटा राजेन्द्र और मैं... कितना अभागा हूँ मैं, एक ही वर्ष में एकदम अकेला रह गया...वह सूना गाँव मुझे काटने को दौड़ता, जहाँ मेरे अपनों की आत्माएँ हवा के हर झोंके के साथ साँय-साँय करती मुझे पुकारती थीं..."

"खासकर राजेन्द्र की तस्वीर भुलाए नहीं भूलती । मैं गाँव छोड़कर चला आया, लेकिन तुम्हारी तरह भटकना नहीं पड़ा । पिछले सात साल से रेलवे में नौकरी कर रहा हूँ । इन दिनों लोकल ट्रेनों में ड्यूटी है । अब यहीं बस गया हूँ । बीबी है, दो बच्चे हैं । कभी आओगे हमारे घर ?"

"जी, जरूर आऊँगा ।"

"मैं न-जाने क्यों तुम्हें इतना प्यार करने लगा । यह संयोग ही है कि आज तुम फिर मिल गए । तुम किसी अच्छे काम पर लग जाओ तो मेरी आत्मा को शांति मिलेगी, गरीबी के कारण राजेन्द्र को कभी मनचाही चीज़ न दे सका...तुम्हारे लिए कुछ कर सकूँ... आओगे हमारे घर ?"

"जरूर आऊँगा," वीरेन हाथ जोड़कर बोला—"आप पता दे दीजिए ।"

मास्टर ने नोटबुक का एक पृष्ठ फाड़कर वीरेन के हाथ में थमा दिया, बोले, “जरा ठहरो,” और जाकर अंधेरी का टिकिट ले आए। टिकिट देते हुए बोले—“पैसे की जरूरत है ? जरूर होगी । कल घर पर आ जाना, अच्छा...लो, गाड़ी आ गई है । बोरीवली फास्ट है, पर अंधेरी तो ठहरेगी ही ।”

वीरेन ने उन्हें हाथ जोड़े, उन्होंने वीरेन का कंधा थपथपा दिया । प्यार में जब कोई कंधा थपथपाता है, तो जैसे एक आधार मिल जाता है, एक राहत मिल जाती है । वीरेन ने मन-ही-मन फिर नमस्कार किया—और पता पढ़ने लगा—पी० सी० गोस्वामी, ६३-वेस्टर्न रेलवे क्वार्टर्स, ग्वार, बम्बई-२२ ।

ट्रेन चली जा रही थी—पति को परदेश जाते निहारती-निहारती थक गई किसी भूतानी-सी...पर, ग्रान्ट रोड से वह यों तेज दौड़ने लगी, जैसे कोई कुंवारी गर्भवती समाज की लांछना और बिन मांगे की बासी खिचड़ी-सा पेट दे गए प्रेमी की प्रवंचना के हाहाकार से विकल हो, किसी कुँए में डूब मरने के लिए दौड़ी जा रही हो ।

ट्रेन दौड़ी जा रही थी, जैसे रत्नागिरि का रामा कालबादेवी की सेठानी के लिए ‘फरमाइशी’ पान लेने दौड़ता है, पूरी रफ़्तार से । डिब्बे में काफ़ी भीड़ थी ।

वीरेन के पाँवों के पास बैठे हुए भैया जी, ‘कहाँ ले के जइयो राम जुलमी नयना !’ के बाद दूध के खाली हंडे में थाप मारते हुए धीरे से कहते थे—“हो गोरी के जोबनवा हुमकन लागे...” और उनकी आँखें सामने सीट पर बैठी हुई, गुर्जरी रूपसी के वक्ष में काँच-सी गड़ी जा रही थीं । जहाँ पोली जमीन हो, वहीं तो खूँटा जल्दी गढ़ता है !...रूपसी की साड़ी सिर पर से जितनी पीछे सरकी हुई

थी, स्तन ब्लाउज में से उतने ही बाहर झलक रहे थे, जो नए फैशन की चोली में इस तरह कसे हुए थे, कि शायद अनावृत होने पर भी नज़रों को यों न खींच पाते !...पर रूपसी लापरवाह 'मारी चुंदड़ी नो रंग गुलाबी' कहानी पढ़ रही थी—'चित्रलेखा' में ।

वहीं कुछ गुजराती सज्जन ताश खेल रहे थे, बोरीवली तक जाने का समय बिताने के लिए । कोई हाथ की तम्बाकू में चरस की गोली मिक्स कर रहा था, तो कोई सीटी में 'चोरी-चोरी मेरी गली आना है बुरा' और कोई 'दिल न चुरा, यों मेरा दिल न चुरा...'; बड़ी-बड़ी पगड़ियाँ बाँधे कुछ घाटी लोग बैठे थे, इनमें से कुछ में वार्ता चल रही थी—“त्यावेलींच खण्डेराव तिकड़े आले आणी शंभाराव यांना त्यानीं रामराम केली...अहो, काय सांगू आतां ? खण्डेरावानीं काय गम्मत केली...” और कोई चुटकी बजाते हुए, 'दैवानी घात कसी केली, नवरा मवाली मिलेला' को 'जब से बलम घर आए, जियरा मचल-मचल जाए' की ट्यून में गा रहा था और कोई 'हाचग बाई मुंबई चा मवाली, हाचग, बाई, हाच...' कव्वाली की तरह होंठों की जंग लगी सारंगी में फिट कर रहा था ।

एक सज्जन 'माया' में से 'एक हजार रुपया नकद इनाम' वाली तांत्रिक अंगूठी का—'जो चाहोगे, वही मिलेगा,' को बार-बार..... 'जिसका बिजली के करेन्ट की तरह असर होता है, जिस किसी खूब-सूरत लड़की को अब अपने वश में करना चाहेंगे', से मिलाते हुए—एड्रेस नोट कर रहे थे...‘प्रिसिपल, बंगाल मेस्मरेजम हाउस’ लिखने के बाद, एक जादुई निगाह अपने स्तनों से सौतेले लड़कों-सा व्यवहार करती हुई गुर्जरी रूपसी पर जाती थी और वह दो मिनट अंगूठी को एकटक देखते रहते थे ।

बंबई के एक प्रख्यात मंदिर के पुजारी इस समय 'बाबू जी' बने हुए, केपस्टेन सिगरेट फूंक रहे थे, और धुएँ के हर छल्ले के साथ अँगुलियों में सोने के उन छल्लों को घुमाते जाते थे, जिन्हें उन्होंने ज़वेरी बाजार से कल्लन कसाई की भतीजी के लिए खरीदा था। कल्लन की भतीजी को क्या मालूम कि जुम्मे-के-जुम्मे बंबई से बोरी-वली का फ़ासला केवल उसके इश्क में तय करनेवाला कितना बड़ा पुजारी है, जो हर औरत को "आइए माँजी, आइए बहन जी" कहकर देवता के दर्शन कराता है !.. यह दूसरी बात है कि कभी-कभी वह किसी माँ-बहन को जगदम्बा के दर्शन के बहाने अपने 'पूजा-गृह' तक ले जाकर कुछ और ही 'दर्शन' कराते हैं...

हाँ, तो कल्लन की भतीजी कुलसुम उन्हें नहीं पहचानती, उनके असली रूप में। यों तो वह जानती है, कि यह बाबू कहीं बैंक में 'चीफ़ एकाउन्टेन्ट' हैं। उन्होंने यही तो बताया था, और जो कुछ उसे बताया जाय, उसी पर वह यकीन करे, ऐसी 'फ़िलॉसफी' उसे वर्षों से पढ़ाई जा रही थी, नहीं तो वह अपने चाचा कल्लन को भी क्या खाक पहचानती थी, जो दिन-भर लोगों को उसका चाचा दिखता था, पर रात को यदि कोई और 'आसामी' नहीं हुआ, तो कुलसुम की और अपनी एक ही चारपाई करता था।

और भी जात-पाँत के नमूने थे, जो अच्छे थे, जिनमें इंसानियत का माहा था, उनका जिक्र नहीं करना चाहिए, अच्छे ग्रह समझकर। इसी समय सारे डिब्बे के आकर्षण-केन्द्र बन गए एक सन्त-महात्मा ! रामन्नामी दुपट्टा ओढ़े थे, और हरिनाम का कीर्तन चल रहा था—
"भज...गोविन्दम्...भज गोविन्दम्..."

"तो मैं कह रहा था, भज गोविन्दम्...भज गोविन्दम्...भाइयो,

माताओ और बहनो...भज गोविन्दम्...भज गोविन्दम्...कि जब तक धरम है, तभी तक दया है, भज गोविन्दम्...धरम दया का मूल है, धरम मूल अभिमान...भज गोविन्दम्...कबिरा दया न छाँड़िए जो लंगि घट में प्रान !...भज गोविन्दम्...बड़े-बड़े पर्वत भए...तो मैं कह रहा था, भज गोविन्दम्, सब हरी नाम का जहूरा है, बाकी सब घास-कूड़ा है...तो भज गोविन्दम्, हरी का नाम जपले मनुवा, मैं कह रहा था, जिसने न किया धरम, उसके फूटे करम ! तो भज गोविन्दम्...भाइयो, बहनो और माताओ कि जो...भज गोविन्दम्, हरी का भजन करे, बंबई मरे, काशी तरे...भज गोविन्दम्...दास कबीरा कह गए..."

तभी बाँदरा स्टेशन आ गया, तो उन्होंने दोनों हाथ कसाईखाने की ओर फैला दिए। बोले—“तो देखो, मेरे भाइयो, भज गोविन्दम्, मेरी बहनो, मेरी माताओ, कि हिन्दू-धर्म डूब रहा है, वह देखो—वे गौएँ, हमारी माताएँ कसाइयों की खूटियों से बँधी हैं...अजब कथा बनवारी, अम्बे, किससे कहें विपदा तुम्हारी !”

बाबा जी की आँखों में जो आँसू आ गए थे, सच्चे हैं, यह दिखलाने के लिए अपने रामनामी दुपट्टे से पोंछते हुए बोले—“गऊ हमारी माता है, बैल हमारा—भज गोविन्दम्...बैल हमारे खेत जोतता है...है न ? हमको अमृत गऊ से मिलता है, धन-धान्य गऊ से मिलता है...तो मैं कह रहा था, भाइयो, बहनो, माताओ कि ऐसी गऊ अम्बे को हमारी आँखों के आगे कत्ल किया जा रहा है, यह घोर अत्याचार हो रहा है हिन्दू संस्कृति पर, वैदिक धरम पर !—तो मैं कह रहा था, अजब कथा बनवारी, कंस था अत्याचारी, उसे मार के मुरारी, तूने थी मथुरा उबारी...तेरी अजब कथा बनवारी, छोटे नयन दिए हाथी को, बड़े नयन चिड़िया री !” भज गोविन्दम्

के बाद, अब 'अजब कथा बनवारी' शुरू हुई थी ।

फिर भोले में से एक काठ का बक्स उन्होंने निकाला, जिस पर रामनाम दो बार और हरी नाम चार बार लिखा था, ऊपर किसी गऊ-शाला की मोहर थी, कि गऊ हमारी माँ है । काठ की उस सन्दूकची को हिलाते हुए, बाबा जी हर व्यक्ति के पास जाने लगे, "तो मैं कह रहा था, भाइयो, बहनो और माताओ कि हमारे पूज्यपाद, महामहिम, विद्याभास्कर, आयुर्वेदाचार्य, ज्योतिष-भूषण, महामहोपाध्याय, श्री १०८, परमहंस, परमसंत—जिनके ज्ञान की ज्योति फैली दिग्-दिगंत—स्वामी श्री...ने गऊ माँ के उद्धार और उसकी रक्षा के लिए आमरण अनशन शुरू किया है...तो मैं कह रहा था, अजब कथा बनवारी, छोटे नयन दिए हाथी को, बड़े नयन चिड़िया री—तो, भाइयो ! गऊ माता की रक्षा के लिए, हिंदू धरम की रक्षा के लिए, हमें धन-संग्रह करने का आदेश गुरु जी ने दिया है...तो मैं कह रहा था, जो न करे धरम, उसके फूटे करम; जो न करे दया, जनम अकारथ गया; तेरी अजब कथा..."

पर, बाबा जी मुश्किल से चार-पाँच रुपये इकट्ठा कर पाए थे, कि एक छोटा-सा हारमोनियम बगल में दबाए, एक छोकरा डिब्बे में घुस आया—कि 'कहीं से ऊँची, कहीं से गीची सड़क जमाने की, सँभल के...सँभल के...सँभल के चलना, बाबू जी...'

बाबा जी ने मुँह बिचका लिया, बोले, "तो मैं कह रहा था..."

पर, तब तक सब लोग छोकरे के सुरीले गले से निकल रहे 'जादूगर सैया, छोड़ मेरी बैया' में खो गए थे ।

फास्ट ट्रेन थी । अँधेरी स्टेशन आने तक, छोकरे ने तीन-चार गाने सुना दिए—चटपटे और सुरीले । कुछ मिनटों में ही उसने तीन-

भार रुपए की रेज़गारी इकट्ठी कर ली ।

बाबा जी, दाढ़ी नोंच-नोंचकर, उसे श्राप देते रहे, वह चटक-चटककर गाता रहा—

“ओ जोगी, जोग से मत कर प्यार !

जवानी रहती है दिन चार !!”

“साला किसी राक्षस की संतान है !” बाबा जी ने दाढ़ी नोंच ली अपनी—“म्लेच्छ है !”

विलेपार्ले पर, सिगनल न मिलने से, ट्रेन रुकी, और एक टिकिट-चेकर बाबू अंदर आए । टिकिट चेक करते-करते, वह उस बुढ़े के पास पहुँचे, जो अपनी किशोरी कन्या का कंधा थामे खड़ा था ।

“टिकिट ?” चेकर ने टिकिट माँगा । पर तभी उस लड़की को अचानक मिर्गी का दौरा पड़ गया, और वह छटपटाने लगी, उसके हाथ-पाँव ऐंठने लगे, मुँह से गाज निकलने लगी...

दारिद्र्य की गोद में पलकर भी, वह कीचड़ में उगे कमल-सी सुन्दर थी । कई मनचले उस पर चोंचले कसने लगे । कपड़े उसके शरीर पर वैसे ही कम थे, हाथ-पाँव ऐंठने से वह और भी विवसना हो गई थी । बूढ़ा उसे अपनी पाषाणकालीन चप्पल सुँघा रहा था ।

तभी बाबा जी बोले, “ढोंग करती है, बाबू, ढोंग ! इस बहाने टिकिट मास्टर को भाँसा तो देगी ही, एक-दो मनचले बाबू भी फँसा लेगी...”

टिकिट चेकर को जैसे शह मिल गई, बोला—“इसको सरकारी अस्पताल में भर्ती करवा दूँगा ।”

सरकारी अस्पताल का नाम सुनते ही, वह किशोरी चीख मार-कर अपने पिता के वक्ष से चिपट गई—“नहीं बापू, मैं सरकारी

अस्पताल नहीं जाऊँगी। वो लोग...वो लोग मुझे...मैं वहाँ नहीं जाऊँगी, बापू, मुझे यहीं काट डालो, मार डालो, मैं कुछ न कहूँगी।”

बुड्ढे की आँखों में करुणा का सागर लहर गया, आँधी की-सी तेजी के साथ, उसने अपनी बच्ची को छाती से चिपका लिया और ट्रेन से नीचे कूदने के लिए दौड़ पड़ा।

पर, रास्ते में खड़े एक व्यक्ति ने उसे बाँहों में भर लिया। वह रो पड़ा—“हमें छोड़ दो, बाबू, हमें मर जाने दो !”...फिर टिकिट-चेकर की ओर मुड़कर बोला—“टेसन बाबू, हमारे पास टिकिट नहीं है। दिन-भर में एक रुपया कमा पाता हूँ, चर्चगेट पर कुलीगिरी करके। वहाँ से गोरेगाँव तक आने-जाने का किराया ही चौदह आने होता है...सो पिछले दो बरस से बेटी को मार-मारकर ऐसा ढोंग रचने पर मजबूर करता आ रहा हूँ।”

“घोर अधरम है, घोर पाप है !” बाबा जी हरी नाम की माला जपते हुए बोले।

“ठीक कहते हो, महाराज ! पुण्य करने का नसीब ही नहीं पाया,” बुड्ढा बोला—“हमें छोड़ दो, बाबू ! जिस गाड़ी से बिना टिकिट सफ़र करने का पाप किया है, उसी से कूदकर अपने पापों का अंत कर लेंगे।”

तभी वह गानेवाला छोकरा बीच में आ गया, बोला—“ओ दाढ़ीवाले महात्मा, बड़े पाप-पुण्य की बात करता है ! गऊ माता के नाम पर इतने रुपए इकट्ठे किए हैं, इन गरीबों का ‘चारज’ भर दे।”

“हरी ओ३म् ! सत्यानाशी है तू !” बाबा बोले—“यह पैसा पुण्यनिधि का है, गऊ माता की रक्षा के लिए है।”

“भाँग-चरस पीने के लिए है; रात को वेष बदलकर, वेश्याओं

के कोठों पर जाने के लिए है—ऐसा क्यों नहीं कहता ?” छोकरा बोला—“अरे, बाबा महात्मा, सात बरस से इस लैन पर गाना सुना रहा हूँ। भगतों की सब पोलपट्टी जानता हूँ। एक और साधू था, दिन-भर सीतामाई के नाम पर पैसे माँगता था, और रात को सीताबाई बनारसवाली का पता पूछता था !”

“कलमुँहा ! साला !” बाबा गरम हो गए—“साधुजनों को दुर्वचन कहता है ? सत्यानाश हो जाएगा ! ओ३म् हरी !”

“अरे, ढोंगी, रहने दे अपनी ‘ओ३म् हरी’ !” छोकरा और तपाक से बोला—“गऊ माता, गऊ माता चिल्लाता है। इसी बंबई में हजारों माताएँ कोठों पर बैठी हैं, उनके उद्धार के लिए कोई आवाज नहीं उठाता ! गऊ माता के लिए आमरण अनशन का ढोंग करनेवालो, थू है तुम्हारी बगुला-भगती पर !”

वीरेन को बड़ा आश्चर्य हुआ। भारत-भूमि पर गौबध-जैसा हीन कर्म न हो, यह तो उचित है पर वस्तुतः उससे भी बड़ा प्रश्न आज वेश्या-वृत्ति के उन्मूलन का है।

बाबा जी ने चिमटा उठा लिया था—“साला, हरामखोर, नीच, नरक में पड़ेगा !...अजब कथा बनवारी, ओ३म् हरी...साला, म्लेच्छ, रंडियों को माँ-बहन बतलाता है? किसी रंडी का ही मालूम पड़ता है!”

“नहीं, नहीं, महात्मा जी,” छोकरा बोला—“मैं गलत कह गया ! आपकी माताएँ तो वे पशु हैं, जो अपने ही बछड़े के संयोग से गर्भ धारण करती हैं !”

यह जवाब नहीं था—ढकोसले के सिर पर झूता था। ढोंग के मुँह पर एक करारा थप्पड़ था, महात्मा जी के सिर पर तो जैसे मिर्जापुरी लट्ट पड़ गया, तिलमिलाकर रह गए, बोले—“तो साला,

भज गोविन्दम्, तू ही 'चारज' क्यों नहीं भर देता अपने खसमों का ?”

छोकरे ने एक घृणाभरी दृष्टि महात्मा की ओर डाली और टिकिट चेकर से 'चारज' बताने को कहा ।

• • •
अंधेरी स्टेशन आ गया था !

वीरेन उतर गया, पर मस्तिष्क के फ्रेम में छोकरे की तस्वीर जड़ी रही । उसका जवाब उसे कड़ुवा लगा था । पर, जितना कड़वा था, उतना ही सत्य भी तो ? हो सकता है, कभी उसकी माँ या बहन भी वेश्या रह चुकी हो—या हो……फिर यह कितनी विचित्र विडंबना है कि वेश्या कम-से-कम अपने पुत्र या भाई से तो व्यभिचार नहीं करती ? लेकिन हमें उसे बहन कहते लाज लगती है, जबकि गऊ को माता कहने में हम पवित्रता का, गौरव का अनुभव करते हैं ? तो क्या, पशु मनुष्य से श्रेष्ठ है ?

वीरेन गेट से बाहर आ गया था, पर विचारों की उथल-पुथल मस्तिष्क के गेट पर अपना टिकिट नहीं दिखा पा रही थी ।

• • •
“आई !”—विट्ठल करुण स्वर में कराह उठा ।

स्वामी उसकी छाती पर चढ़ बैठा था, छुरी विट्ठल की बाँह में चोट कर गई थी, और विट्ठल का छुरीवाला भाग स्वामी के कब्जे में था । स्वामी ने बलपूर्वक उसका हाथ मरोड़ा, तो विट्ठल के हाथ से छुरी गिर गई । स्वामी ने अब अपनी छुरी को कसकर पकड़ा; “साला, हलकट चीर डालेगा, सूअर ।”

रेवा थर-थर काँपती खड़ी थी । उसका अंतर्मन और भी काँप रहा था । विट्ठल के मुँह से केवल कराहें निकल रही थीं । तो मेरे

लिए इसके प्राणों की बलि चढ़ेगी ? प्रश्न रेवा के मस्तिष्क में चाबुक-सा मार गया !...क्या उसके शरीर से स्वामी के व्यभिचार की कीमत विट्ठल के प्राणों से भी अधिक है ?...और कौन वह अक्षत-यौवना कुमारी या पतिव्रता रही है ? वेश्या-जीवन में जहाँ सैकड़ों पुरुषों का बोझ सहा...और सही...जुतियाँ खाकर, चप्पल से क्या परहेज ?...

रेवा ने लपककर, स्वामी के दोनों हाथ पकड़ लिए—“उसे छोड़ दो, स्वामी ! जैसा तुम चाहो, मैं अब इन्कार न करूँगी ।” वाक्य पूरा करते-करते उसके आँसू स्वामी के हाथों पर चू गए ।

लोहे की हथकड़ियाँ ज़िन्दगी में कई बार पहनी थीं स्वामी ने—पर आँसुओं की हथकड़ी आज पहली बार... उसने रेवा की ओर आँखें उठाई, तो जैसे उसके सारे शरीर में एक कँपकँपी-सी दौड़ गई...लगा, औरत के आँसुओं में गुलाबी जाम ही नहीं होते, ज्वाला भी होती है...जो शरीर पर हाथ न रखने देती थी, वही विट्ठल की प्राण-रक्षा के लिए अपना सर्वस्व लुटाने को तैयार है—और वह पुरुष होकर—स्वामी का मन हुआ अपने मुँह पर थूक ले—तेजी के साथ वह उठा, और सीधे अपने भोंपड़े में घुस गया ।

डीसोजा आया, तो देखा, स्वामी रो रहा था । डीसोजा ने सोचा—पिचन्ना के भागने की खबर इसे मिल गई है !...वह लौटकर वापस चला गया ।

सोलह

वीरेन जब भोंपड़े में पहुँचा, रेवा विट्ठल के हाथ में गोला कपड़ा बाँध रही थी ।

“क्या हुआ, रेवा ?”

रेवा ने आँख से चुप रहने का इशारा किया और उस इशारे पर जैसे वीरेन का मन-मयूर नाचता ही रह गया । कहते हैं, नारी के चक्षु ही कामदेव का पुष्पधनु हैं, जब वहाँ से इंगित-इंगित पर पुष्प-शर छूटते हैं...मन शंभु-चित्त-सा डोल ही जाता है !

खून काफ़ी बह जाने से विट्ठल कमजोर हो गया था, उसे झपकी आ गई । रेवा ने कमरे को लीपा, फिर वीरेन के साथ बाहर आकर, बैठ गई ! रेवा ने संक्षेप में सारा किस्सा बताया, तो वीरेन सिहर तो उठा, लेकिन वह सोचता रहा—वह भीख माँगनेवाला छोकरा, वह स्वामी, वह विट्ठल...ये चोर-बदमाश कहलानेवाले किस

तरह अपने मानस-मंदिर में इंसानियत का दिया जलाए रहते हैं। इंसानियत का दिया उनके हृदय की इतनी दूरी में जलता रहता है, कि बाहर से उसकी एक किरण भी दृष्टिगोचर नहीं होती—पर, वह दिया कभी बुझता नहीं।

गरीब को इंसानियत ध्रुव है।

सेठ लोग हजार मनुष्यों का रक्त निचोड़कर, कुछ चाँदी के टुकड़े, पशुओं के लिए गोशाला-धर्मशाला बनाने को दे दें, तो उनकी दया, धर्म-कीर्ति की दुंदुभि चारों दिशाओं में गूँजने लगती है।

पर, गरीब अपने प्राणों की आहुति देकर भी मानवता के आदर्शों की रक्षा करता है, तो कहीं चर्चा तक नहीं होती !...सेठ हजारों के गले में स्वार्थ की छुरी फेर देते हैं, सरे आम इंसानियत को कत्ल कर देते हैं, वह केवल रोजगार दिखाई देता है।

गरीब गंजी-फाक बेचकर चार आने कमाने की कोशिश करे, वह कानून की दृष्टि में अपराधी है !...

सेठ के पुण्य और गरीब के पाप—दोनों तिल से ताड़ बनकर, समाज के सामने आते हैं...

“क्या सोच रहे हैं आप ?”

“कुछ नहीं, रेवा,” वीरेन बोला—“सोच रहा हूँ, तुम्हें कैसे यहाँ से ले चलूँ ! जहाँ मैं दो पैसे कमाकर ला सकूँ, और तुम मेरे लिए रोटियाँ पका दिया करो—” रेवा हँस पड़ी तो वीरेन ने उसके दोनों हाथ अपने हाथ में ले लिए—“बड़ी-बड़ी बातें सोचा करता है, रेवा ! बड़ी-बड़ी बातें...तुम से भी, अपने से भी...”

“लेकिन,” रेवा बोल उठी—“केवल सोचने से ही तो कुछ नहीं हो जाता, ठाकुर !”

वीरेन ने ध्यान नहीं दिया, बोला—“एक अच्छे आदमी मिल गए हैं। अपरिचित होते हुए भी, भाई-सा प्यार करते हैं। उन्होंने कहीं नौकरी दिलाने की बात कही है ! अगर नौकरी मिल जाए, रहने को जगह मिल जाए…”

“ऐसा हो सकेगा, ठाकुर ?”

“ऐसा होना ही चाहिए, ऐसा कहो, रेवा !”

“आई…पानी…” विट्ठल कराह उठा। ‘मैं जरा उसे पानी पिला आऊँ’ कहकर रेवा अंदर चली गई। विट्ठल ने उठने की चेष्टा की, तो रेवा ने उसे बाँहों का सहारा दिया, बैठ जाने पर विट्ठल बोला—“बाई, मेरे से एक बहुत बड़ा गुनाह और हो गया आज ! मैं उस ठाकुर भाई को पुलिस के कटघरे में डाल आया…वह बेचारा मन-ही-मन क्या सोचता होगा ?…”

“कौन ठाकुर, रे ?” रेवा ने पूछा।

“वही, बाई, जो दादा के साथ इस भोंपड़े में आया था !…” विट्ठल बोला—“उसको मैं दारू-सप्लाई करने के बहाने फँसा आया। क्या भोट मागूस था, बेचारा क्या समझे, किसके अंदर कितना जहर भरा हुआ है ?…आई शपथ, बाई, अभी हमेरा जान उसके लिए तड़पता है…”

“मैं भी जानता था, मेरे बिना तुम्हारी आत्मा तड़प रही होगी, इसलिए हवलदार साहब से छुट्टी लेकर चला आया…”

विट्ठल ने आँखें उठाकर देखा, तो देखता ही रह गया। बोला—“तुम ?”

वीरेन ने उसे बताया, कि क्या कुछ गुजरी !

“मेरे को माफ़ी कर देना, ठाकुर।” विट्ठल की आँखों में आँसू

अर गए ।

“घाव गहरा तो नहीं, विट्ठल, नहीं तो डॉक्टर को दिखाना चाहिए ?” वीरेन बोला ।

“नहीं, नहीं, ठीक हो जाएगा ।” विट्ठल हँसकर बोला—
“डॉक्टर लोग बड़ा हलकट होता है, बावन बात पूछेगा । बेकार में पुलिस को टेलीफ़ोन करेगा...खाली-पीली लफड़ा बढ़ जाएगा !...”

°

°

°

स्वामी बाहर बैठे, पिचन्ना की बात देख रहा था । आज उसे बहुत दिनों बाद पिचन्ना पर प्यार आया था । उसे याद आ रहा था, किस तरह वह मद्रास के बेंकटेश्वरम् के मन्दिर में भीख माँगने के लिए, पिचन्ना को गोद में लिए, सेठ-सेठानियों के इर्द-गिर्द चक्कर काटता था !...उसे याद आ रहा था, चिथड़ों में छुपी पिचन्ना जब हसरत भरी नज़र से सेठ-कन्याओं के कीमती कपड़े देखती थी... तो न-जाने क्यों उसकी आँखों में आँसू और अंगारे एक साथ आ जाते थे ।

जब मन विचारों के बोझ से लद गया, तो स्वामी काफ़िले के ऊँट-सा, होटल की ओर चल दिया । होटल के नौकर, चलप्पा, ने उससे पूछा—

“येन् समाचारम्, स्वामी ?”

“समाचार इल्ले,” कहकर स्वामी ने घड़ी की ओर देखा, तो दस बज चुके थे । चाय जल्दी-जल्दी पीकर, स्वामी बाहर चला आया । हमेशा तो तड़के ही पिचन्ना लौट आती थी । आज ही इतना विलम्ब क्यों ? प्रश्न के साथ ही, उसके मस्तिष्क में पिचन्ना की गए दिन की बातें हथौड़ा-सा मारने लगीं ।

स्वामी फरनान्डिस डीसोजा की वाशिंग कंपनी के पास रुक गया। डीसोजा खड़ा कुछ हिसाब मिला रहा था, स्वामी ने उसे इशारे से बुलाया।

“पिचन्ना क्या अभी तक सोई है, रे, डीसोजा ?”

“क्या बोलते हो, अन्ना ? पिचन्ना तुम्हारे उधर नहीं है ?” डीसोजा बोला, हालांकि वह जानता था कि पिचन्ना भागकर भाई के पास नहीं लौट सकती।

स्वामी व्याघ्र-दृष्टि से क्षण-भर डीसोजा को घूरता रहा, तो डीसोजा को नाड़ी बंद होती-सी लगी। बोला—“अभी हम क्या बोले, स्वामी, कल तो वह हमारे को पीठ पर भी हाथ नहीं फिराने दिया... बाई गाँड, हमारा पचास रुपीज तो केराँसिन के डिब्बे में चला गया !... बाई गाँड, पिचन्ना तो भाग गया, स्वामी।”

स्वामी का मन हुआ, उसका गला घोट दे। पर, आज उसका मन पूस की पालक-सा नरम पड़ा हुआ था। वह सोच रहा था, डीसोजा को वह क्या कहे ? खुद बहन की अस्मत् का सौदा करते, जब उसे लाज न आई, जब उसने अपना गला न घोट लिया— डीसोजा को वह क्या कहे ?

स्वामी को अपने शरीर की नसें ऐंठती-सी लग रही थीं। मुँह फेरकर, चुपचाप, वह अपने भोंपड़े की ओर चल दिया। रामभजनवा ने कमर से निकलकर उसे एक लिफाफा थमाया। स्वामी ने लिफाफा खोला—

My dear friend, Swami,

Come at my home, as soon as possible. I have

a good news for you.

Your's
Seth Kanji

स्वामी ने सोचा, कौन-सी 'गुड न्यूज' उसके लिए है ?...

राह-भर स्वामी चारों ओर ताकता रहा—कहीं तो पिचन्ना नज़र आए। पर, पिचन्ना उसे कहाँ नज़र आती ? सबरे के अखबारों में एक मद्रासी लड़की के ट्रेन के नीचे आकर आत्महत्या कर लेने की खबर छप चुकी थी...

०

०

०

स्वामी को देखते ही, कानजी सेठ की बाँछें खिल गईं। बोले—
“आओ, अन्ना, तुम्हारा ही इन्तज़ार था।”

“बोलो, सेठ, कइसा-क्या हाल-चाल है ?” स्वामी ने सलाम करते हुए पूछा।

“हाल-चाल क्या होगा, स्वामी !” सेठ भौं सिकोड़कर बोले—
“तुम्हारे-जैसे दोस्त के होते हुए, नाक कट गई अपनी।” सेठ जी यह सुनने की उम्मीद में थे कि स्वामी भट से छुरा खींचकर, बोल उठेगा—‘क्या बोलते, सेठ ! जिसने तुमेरी ओर आँख उठाया होगा, उसका बोटी-बोटी से जिसम जुदा कर देगा ! क्या, सी ई ई ई—चीर डालेगा, फाड़ डालेगा।’

पर, स्वामी इतना ही बोला—“हुआ क्या, सेठ ?”

मौसम आई कुतिया का-सा मुँह बनाकर, सेठ बोले—“...अभी और क्या होने को बाकी रह गया ?...‘भर’ की छोकरी मेरे मुँह पर थूककर चली गई !...”

खूब नमक-मिर्च लगाकर, उन्होंने सोनू की नमकहरामी का

किस्सा सुनाया, कि सात महीने तक घर का खिलाकर, बीस-बीस रुपए ऊपर से दिए और एक दिन ज़रा-सा हाथ क्या फेरा, मुँह पर थूककर चली गई। बोले—“इन साले घाटियों की छोकरियाँ होती ही हलकट हैं। कोई क्रिश्चियन छोकरी होती, मेरी तमन्ना पूरी करके, सोने की ‘रिस्ट वाच’ पहनती !”...फिर सौ-सौ के पाँच नोट निकालकर, स्वामी को दिखाते हुए, बोले—“तुम पहले भी हमारा एक-दो काम कर चुके हो...बस, उस घाटन को मेरे कदमों पर लाके पटक दो ! फिर उसकी वह गत कहेँ...वह गत कहेँ...”

“अभी हमारे से ऐसा हलकट काम नहीं होगा, सेठ !” स्वामी बोला—“अभी हम अपना मुलक लौटकर, ईमानदारी का जिंदगी बिताने की बात सोचता है। तुमारे से मेहरबानी हो सके, तो सौ रुपया हमको उधार दे दो...”

“ऐसे तो एक फूटी कौड़ी भी नहीं मिलेगी।” कानजी सेठ ने मोहरा उठा लिया—“काम पूरा कर दो, पाँच सौ और दूंगा। छोकरी में भी तुम्हारा हिस्सा...”

“सेठ, तुम लोग हमारे को शिकारी कुत्ता समझते हो !...हलकट काम करने को तुम एक हजार दे सकते, कईसा क्या, ईमानदारी की जिंदगी बसर करने के लिए सौ रुपया भी नहीं ?...थू है तुमेरी दौलत पर !”

सेठ शराब पिए हाथी-से बिगड़ गए—“क्यों, आखिरी उमर में कसाई को कुम्भ-स्नान की सूझी है ! तुम कौन-सा कद्दू में तीर मारे हो ? पिछले बरस तो दो सौ रुपए में ही ईमान गिरवी रख गए थे, मेरे ही यहाँ ?”

“गू तो सबकी पेट में होता है, सेठ।” स्वामी बोला—“पर,

बिस्तरे में या चौके में कोई नहीं हगता ! तुम सेठ लोग देवता के मंदिरों तक में हग देते हो, लेकिन उसे तुरंत कीमती दुशालों से ढँक देते हो...और दुनिया केवल दुशालों को ही देख पाती है, गंदगी को नहीं देख पाती । भूल गया, सेठ ? मंदिर में ही औरत का अस्मत् लूट के, उलटे मंदिर के पत्थर पर अपने ५०००) रुपए का 'दान' खुदवा लिया ?...हमारे लोग के पुण्य और तुमारे लोग का पाप—दोनों ढँका रह जाता है ! कईसा क्या ? थू है तुम्हारी दौलत पर...!"

और स्वामी ने, बाज की तरह झपटकर, कानजी सेठ के हाथ से नोट छीन लिए, और उन पर थूककर, नोट सेठ के मुँह पर फेंक दिए...और चला गया ।

कानजी सेठ देखते ही रह गए, कि यह क्या-से-क्या हो गया ? गुस्से से उनका सारा शरीर काँपने लगा, पर बनिए के लिए अपमान का मूल्य ही क्या ? कुरते की आस्तीन से नोटों पर लगा थूक पोंछने लगे । हल्ला-हो सुनकर, नौकर 'शुं थयूं, सेठ जी !' कहता बाहर आया, तो बोले, "जरा पानी गिर गया है नोटों पर ।"

•

•

•

विठ्ठल तो कल रात को ही चला गया था ।

वीरेन प्रातःकाल जल्दी ही उठकर चला गया, कि गोस्वामी जी के यहाँ जा रहा है...

दोपहर के एक बजे वीरेन लौटकर आया । रेवा ने खाना परोसते हुए पूछा—"बहुत प्रसन्न दीखते हैं आज आप ?"

"क्यों, तुम प्रसन्न नहीं हो ?"

"आपकी प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता है ।"

"आज मैं बहुत खुश हूँ, रेवा !" वीरेन, जूठे ही हाथ से रेवा

१२६/बोरीवली से बोरीबंदर तक

का हाथ पकड़ कर, बोला—“गोस्वामी जी बहुत ही सज्जन हैं। उन्होंने अपने मित्र डाहिया भाई पाटिल के प्रेस में नौकरी दिला दी है मुझे। शुरू में ११०) रुपए महीना मिलेंगे...काफी हैं न ? रहने को भी जगह मिल गई है, बोरीबंदर डाहिया भाई जी का प्रेस है, वहीं उन्होंने ‘कोठारी मेन्शन’ में मुझे रहने को जगह दी है। हम कल ही वहाँ चले जाएँगे। चलोगी न, रेवा ?”

“आपके साथ कहीं भी चल सकती हूँ !” रेवा ने पानी देते हुए कहा।

सत्रह

साँझ-जट्टी के हिरणावरके नैनों में स्वप्नों के राज-हँस तिर रहे थे ।

बीरेन ने रेवा को अपनी ओर खींच लिया । रेवा शरमा गई । हवा के हर झोंके के साथ, जैसे फूल और महक उठता है, लज्जा की लाली में, रेवा का चेहरा और सुन्दर लगा ।

प्यार के हर मोड़ पर नारी लजाती है, पर लज्जा के अधर कभी बासी नहीं होते, प्यार के आबेग से, रेवा की अधर-पाटी वसंत-काल की विजय-वल्लरी-सी काँप रही थी । बीरेन ने, ठुड्डी उठाकर, कुछ क्षणों तक रेवा के लज्जारुण कपोलों को निहारा, फिर हँसते हुए उसके काँपते अधरों पर अपने अधर रख दिए और उसे बक्ष से चिपका लिया...!

“यह क्या हो रहा है, नूर ?”

नूर के मन-नागासाको, हृदय-हिरोशिमा में जैसे 'एटम बम' गिर पड़े ।

वीरेन टुकुर-टुकुर देखता रह गया ।

...सामने नेत्रों में हिंसा की धधकती ज्वाला लिए, म्यूनिसिपेलिटी की सड़क पर आबनूस के खँभे-सा, दादा खड़ा था ।

नूर की मन-कदली पर वज्रपात-सा हो गया । वह नज़रें भी ऊपर न उठा सकी ।

दादा ने दोनों हाथ से गला पकड़कर वीरेन को खड़ा कर दिया—“मैं समझता था, हिन्दू लोग झूठी पतल नहीं चाटते ! पर, तुम तो कुत्ते निकले—और कुत्ते का ईमान क्या ?”

यह वाक्य दादा ने इतने वीभत्स ढंग से कहा, कि वीरेन का शरीर क्रोध से काँपने लगा । उसने दोनों हाथों को मुष्टि-बद्ध कर, पूरी ताकत लगाकर, दादा के सीने पर जोर से आघात किया...

पहाड़ी हाथों के इस आघात को दादा नहीं भेल सका । सीने में चोट पड़ने से उसे खाँसी आ गई । वह गुमसुम खड़ा रह गया । उसके मुँह से खून टपकने लगा था ।

वीरेन को बुरा लगा, आखिर कसूर तो उसी का था । अपनी पत्नी से दूसरे को व्यभिचार करते देख कौन चुप रहेगा ? वीरेन ने जेब से रूमाल निकाला और दादा के मुँह का खून पोंछना चाहा, पर दादा ने उसे धक्का मार दिया... फिर नूर का सिर ऊपर उठाकर बोला—“यह सब क्या तुम्हारी मर्जी से हो रहा था, नूर?... नहीं तो मैं चीर डालूंगा !...” और उसके हाथ में तेज़ धार का छुरा चमचमा रहा था—“मैं तो दोपहर को ही ज़मानत पर छूटकर आ गया था, अलीबख्श ने बताया, बीबी क्या गुल खिला रही है, शाम को

देखना !...वह परसों सबेरे यहाँ मेरा हाल पूछने आया था, तो तू इस काफ़िर को बोसा दे रही थी !...फिर उसने खुद तहकीकात कर मेरो ज़मानत ली...हरामज़ादी, बोलती क्यों नहीं ? कुतिया !” और उसने एक लात रेवा की पीठ पर मारी...रेवा कराह उठी...

वीरेन से सहन नहीं हुआ । वह दादा को पकड़ने दौड़ा, तो दादा ने छुरे की मूठ से जोर से उसके सिर पर वार किया और वीरेन बेहोश होकर गिर गया । वीरेन के गिरते ही, दादा उसके सीने पर चढ़ गया—“चीर डालूंगा, फाड़ डालूंगा, काफ़िर कुत्ते ! ...”

रेवा आकर ठाकुर के ऊपर लेट गई, उसने दोनों हाथों से दादा का मुँह नोंच लिया—“लो चीर डालो, मुझे भी चीर डालो !... एक चोर, खूनी, बदमाश...इससे ज्यादा और क्या कर सकता है ?... जिसने कभी माँ न देखी हो, बहन न देखी हो... जो हर औरत को कुतिया समझता हो...वह कुत्ता इंसानियत क्या समझेगा ?...”

“तू मुझे कुत्ता कह रही है, नूर ?” दादा चीख-सा उठा—“मेरे अहसानों का यह बदला ?”

“खूब अहसान किए ?.....” रेवा रोती रही—“तीन सौ में खरीदकर लाए थे, तो तीन बरस तक मेरा जिस्म नोंचते रहे हो ? मेरे बाप की उमर तुम्हारी होगी, फिर भी मैं तुम्हें बोबी का सुख देती रही !...कभी तो तुमने मेरा दर्द समझा होता !...लो, चीर डालो मुझे ? मुँह क्या देखते हो ? मुझे खरीदा था न तुमने ? मेरा ताजा खून पीकर रुपए वसूल कर लो ? खून के प्यासे तो तुम मुसलमान होते ही हो !...”

और, रुदनावेग से, रेवा का कंठ रूँध आया । उसकी आँखों के आगे अंधियारा छा रहा था...

थोड़ी देर बाद उसने सिर ऊपर उठाया, तो दादा कमरे में नहीं था ।

सबेरे सात-पच्चीस की ट्रेन से दोनों चर्चगेट के लिए रवाना हो गए । वीरेन को डर था, दादा कहीं लौटकर न आएँ...और फिर न-जाने क्या तूफ़ान मचाए ? उसका माथा बहुत दुख रहा था...

रेवा ने उसे सामने की ओर देखने के लिए इशारा किया— दादा अपनी सीट पर ऊँघ रहा था, दाढ़ी बढ़ी हुई थी, चेहरा काला पड़ गया था, बहुत खूँखवार लग रहा था उसका चेहरा !

“रेवा, हम विलेपालें उतर जाएँ ?” वीरेन बोला ।

“क्यों, दादा से डरते हो ?”

“अपराधवृत्तिवाले का कोई भरोसा नहीं, रेवा, कि कब क्या कर बैठे ?”

“अभी तो वह सोए हैं...” रेवा ने अन्यमनस्क होकर कहा और खिड़की से बाहर देखती हुई बोली—“ग्रांट रोड हम उतरेंगे ।”

ग्रांट रोड उतरकर, वीरेन ने मुड़कर देखा—दादा ज्यों-का-त्यों ऊँघ रहा था ।

स्टेशन से बाहर आकर, वीरेन ने कहा—“टैक्सी कर लें, बोरी-बन्दर के लिए ?”

“नहीं, मुझे जरा चर्नीरोड जाना है । वहाँ तक टैक्सी करनी हो कर लीजिए ।”

टैक्सी ड्राइवर ने ब्रेक दबाते हुए, आँखें उघाड़ीं, तो रेवा बोली—
“कृष्ण सिनेमा ।”

“क्यों, पक्कर देखनी है, रेवा ?”

“तो, क्या”...रेवा हँस पड़ी—“तुम समझते थे, दादा के डर से उतर गई थी मैं ?”

“लेकिन, बेमौके यह पिकचर देखने की क्या सूझी तुम्हें ?”

“मुझे पिकचर देखने का शौक नहीं है ।” रेवा फिर हँस दी ।

कृष्ण सिनेमा के पास उतरकर, रेवा कृष्णपुरी हाउस के पास गई, बोली—“भगवान् कृष्ण की इस तस्वीर को मैंने आज से तीन साल पहले भी नमस्कार किया था—कि वासुदेव, एक नरक से उद्धार किया है दूसरे से भी करना...और आज प्रभु ने मेरी आकांक्षा पूर्ण की है...आप भी नमस्कार कीजिए न ।”

दोपहर से पहले-पहले दोनों ‘कठोरी मेन्शन’ के छोटे-से कमरे में पहुँच गए ।

रेवा आश्चर्य से देख रही थी कि सामान्य ज़रूरत की हर चीज़ कमरे में पड़ी है, घड़े में पानी भी भरा पड़ा है । बरतन भी करीने से रखे गए हैं । बोली—“आप तो औरतों का-सा काम करते हैं !”

“बातें तो मर्दों जैसी करता हूँ !” कहते हुए, हँसकर, वीरेन ने उसे बाँहों में भर लिया । फिर बोला—“रेवा, आज तुम मुझे अपने हाथ से चाय बनाकर पिलाओ—सबसे पहले चाय...फिर नई जिंदगी...”

और वह पागल हँसी में डूब गया ।

रेवा स्टोव जलाते हुए, बोली—“ज़रा खिड़की खोल दीजिए, हवा तो आए ।”

वीरेन ने खिड़की खोली, तो दादा को अपनी ओर ताकते पाया, खिड़की भटके से बन्द कर, लौटा—“रेवा, दादा नीचे खड़ा है...न-

जाने क्या फसाव करे ? मैं ऊपर सेठ के कमरे में जाकर टेलीफोन करता हूँ पुलिस को... तुम दरवाजा अन्दर से बन्द कर लो.....”

रेवा ने उसे रोक दिया—“पुलिस मत बुलाओ, बेचारा यों ही बहुत दुःखी है । तुम इलजाम लगाओगे, तो शायद पुलिसवाले मारें उन्हें...”

“तुम तो सूख हो, रेवा ! वह खूनी है...बदमाश है...न-जाने क्या कर बैठे ?”

“वह खूनी है, बदमाश है...लेकिन आपकी तरह हैवान नहीं है !”
रेवा चिल्ला उठी ।

“क्या हो गया है तुम्हें, रेवा ?” वीरेन बोला ।

“ठीक तो कहती हूँ,” रेवा तेज आवाज में बोली—“जिसने आपको आश्रय दिया, अपनी बीबी तक दे दी...उसका भी आपको यकीन नहीं ? दादा लाख बुरे होते हुए भी, मुझे कितना चाहते हैं ? चाहते तो, उस दिन, आपके सीने पर से यों ही उठकर नहीं चले जाते !...जाइए, आप पुलिस को टेलीफोन कीजिए । मैं दादा को ऊपर बुलाती हूँ...”

और वीरेन की ओर देखे बिना, रेवा खिड़की खोलने चली गई ।
बोली—“दादा, बाहर क्यों खड़े हैं ? ऊपर आ जाइए ।”

वीरेन चुपचाप पलंग पर बैठ गया । वह सोच नहीं पा रहा था, गलती वह कर रहा था—या रेवा ने की है ?

दादा अन्दर आ गया, तो रेवा ने आदर के साथ पलंग पर बिठाया और उसके पाँव पकड़ लिए.....दादा ने उसे ऊपर उठा लिया—“यह क्या कर रही हो, नूर ? मेरे लिए दोड़ख का रास्ता क्यों खोलती हो ?...”

रेवा रो रही थी। दादा की आँखों में भी आँसू थे—“तुम्हें याद होगा, नूर, तुम्हें लाने के दिन मैंने कहा था, ‘जब भी तुम्हें मनपसन्द आदमी मिले, तुम चली जाना!’... अपना यह कौल मुझे कल याद नहीं रहा था...”

फिर, वीरेन की ओर रुख कर, बोला—“ठाकुर, बड़े खुशकिस्मत हो, यार, तुम!” और हँस दिया। वीरेन ने हाथ जोड़ दिए—“मुझे माफ़ कर देना, दादा!”

दादा मुसकरा दिया—“माफ़ी की गरज़ तो मुझे है, ठाकुर!... तुम अभी रो रही हो नूर? सुनो कृष्ण सिनेमा के पास, तुम्हारे खुदा को मैं भी सलाम कर आया हूँ।”

“मेरे खुदा को? मैं तो हिन्दू हूँ।” रेवा बोली—“वह तो भगवान कृष्ण की तस्वीर थी, मुसलमान तो उन्हें नहीं मानते?”

“मुसलमान नहीं मानते होंगे, मैं तो इंसान से ज्यादा कुछ नहीं हूँ, नूर। फिर जिसे तुमने सलाम किया, वही मेरा खुदा है।” दादा बोला—“पर उस मुरलीवाले में करामात तो है, नूर! जब से उसे सलाम किया, दिल एकदम साफ़ हो गया है। लगता है, मेरे सारे गुनाहों को किसी ने माफ़ कर दिया है...”

रेवा बोली—“मैं चाय बनाती हूँ।”

“गुलाबी दुपट्टा ओढ़कर पिलाओगी?” दादा हँस पड़ा, पर आँखों से आँसू चू रहे थे। उसके स्याह गालों पर आँसू सलेटी रँग की टेबुल पर रखे मोतियों-से चमक रहे थे...

सुझर...

बूढ़ा सूरज, अस्ताचल का आईना सामने रखे, अपनी सफ़ेद दाढ़ी में सिंदरी खिजाब लगा रहा था...

